विवेक-ज्योति

• हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

वर्ष : १८
अंक : २

प्रति अंक १॥)
वार्षिक शुल्क ५)

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रेल – मई – जून

★ १ ९ ८ ० ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

ब्रह्मचारी शंकरचैतन्य

वार्षिक ५)

एक प्रति १।।)

आजीवन सदस्यता शुल्क–१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर ४९२००१ (म० प्र०)

दूरभाष : २४५८९

श्रीरामकृष्ण–विवेकानन्द साहित्य के कुछ संग्रहणीय ग्रंथ

(१) श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग (स्वामी सारदानन्द कृत श्रीरामकृष्णदेव की तीन खण्डों में सुविस्तृत जीवनी)।

(२) श्रीरामकृष्णवचनामृत (श्री रामकृष्ण के अमृतमय उपदेशों का अपूर्व संग्रह, तीन भागों में)।

(३) मां सारदा (श्री रामकृष्ण की लीला सहधर्मिणी की विस्तृत जीवनी)।

(४) विवेकानन्द चरित (सुविस्तृत प्रामाणिक जीवनी)।

(५) विवेकानन्द साहित्य (१० खंडों में संपूर्ण साहित्य)

बच्चों के लिए पठनीय सचित्र पुस्तकें

(१) श्रीरामकृष्ण की जीवन - कथा (हिंदी में)

(२) बच्चों के श्रीरामकृष्ण (हिन्दी में)

(३) श्री रामकृष्ण की कहानियां (हिन्दी में)

(४) The Story of Vivekananda (अंग्रेजी में)

(५) Swami Vivekananda (,,)

(६) Ramakrishna for Children (,,)

(७) The Story of Ramakrishna (,,)

(८) Tales from Ramakrishna (,,)

(९) शिशुदेर विवेकानन्द (बंगला में)

प्राप्ति स्थलः– विवेक ज्योति कार्यालय, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर ।

अनुक्रमणिका

-: ० :-

कवर चित्र परिचय : स्वामी विवेकानन्द

भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्य पर प्राप्त कराये गये कागज पर मुद्रित ।

मुद्रण स्थल : रायपुर प्रिन्टर्स, श्याम टाकीज के पास, रायपुर.

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण–विवेकानन्द–भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १८) अप्रैल–मई–जून (अंक २

★ १९८० ★

संसार-बन्धन का कारण

देहात्मना संस्थित एव कामी
विलक्षणः कामयिता कथं स्यात् ।
अतोऽर्थसन्धानपरत्वमेव
भेदप्रसक्त्या भवबन्धहेतुः ॥

—वही कामनावाला होता है, जिसने अपने को देह के साथ एक समझ लिया है। जो देह-बोध से रहित है, वह भला कैसे सकाम हो सकता है? इसलिए भेदासक्ति का कारण होने से विषय-चिंतन में लगा रहना ही संसार-बंधन का मुख्य कारण है।

— विवेकचूड़ामणि, ३१२

अग्नि-मंत्र

(स्वामी अखण्डानन्द को लिखित)

लंदन[1]

१३ नवम्बर, १८९५

प्रिय अखण्डानन्द,

तुम्हारा पत्र पाकर मैं बहुत प्रसन्न हूं। तुम जो कार्य कर रहे हो, वह बहुत अच्छा है। रा– बड़े उदार और मुक्त-हस्त हैं, परन्तु इसलिए उनसे इसका नाजायज फायदा न उठाना चाहिए। श्रीमान् का अर्थ-संग्रह करने का संकल्प अच्छा है, पर, मेरे भैया, यह संसार बड़ा ही विचित्र है, काम-कांचन से जहां पिण्ड छुड़ाना ब्रह्मा-विष्णु तक के लिए दुष्कर है। जहां रुपये-पैसे का सम्बन्ध है, वहीं भ्रम होने की संभावना है। अतः मठ के नाम पर अर्थ संग्रह-आदि का काम कोई न करे। ...मेरे या हम लोगों के नाम से कोई गृहस्थ मठ के लिए या किसी दूसरी बाबत चन्दा वसूल कर रहा है, यह सुनते ही उस पर सन्देह करना और उसका साथ न देना। विशेषकर साधनहीन गृहस्थ अपना अभाव दूर करने के लिए तरह तरह के उपाय किया करते हैं। अतः यदि कोई कोई विश्वासी भक्त अथवा सहृदय गृहस्थ, जो साधनसंपन्न है, मठ आदि बनाने के लिये उद्योग करें या संगृहीत अर्थ कोई धनी और विश्वासी गृहस्थ के पास हो, तो अच्छी बात, नहीं तो उससे अलग रहना। इसके विपरीत यह कि औरों को इस कार्य से मना करना। तुम अभी बालक हो, कांचन की माया नहीं समझते।

मौका मिलने पर अत्यन्त नीतिपरायण मनुष्य भी प्रतारक बन जाता है। यही संसार है। चार आदमी के साथ मिलकर कोई काम करना हम लोगों की आदत नहीं। हमारी इसीलिए इतनी दुर्दशा हो रही है। जो आज्ञा-पालन करना जानते हैं, वे ही आज्ञा देना जानते हैं। पहले आदेश-पालन करना सीखो। इन सब पाश्चात्य राष्ट्रों में स्वाधीनता का भाव जैसा प्रबल है, आदेश-पालन करने का भाव भी वैसा ही प्रबल है। हम सभी अपने आपको बड़ा समझते हैं, इससे कोई काम नहीं बनता। महान् उद्यम, महान् साहस, महावीर्य और सबसे पहले आज्ञा-पालन —ये सब गुण व्यक्तिगत या जातिगत उन्नति के लिए एक-मात्र उपाय हैं और ये गुण बिल्कुल ही हममें नहीं हैं।

तुम जिस तरह काम कर रहे हो, वैसे ही करते जाओ। परन्तु अपने विद्याभ्यास पर विशेष दृष्टि रखना। य—बाबू ने एक हिंदी पत्रिका मुझे भेजी है, उसमें अलवर के पंडित रा— ने मेरी शिकागो-वक्तृता का अनुवाद किया है। दोनों सज्जनों को मेरी विशेष कृतज्ञता और धन्यवाद अर्पित करना।

अब तुम्हारे लिए कुछ लिखता हूं। राजपूताना में एक केन्द्र खोलने का विशेष प्रयत्न करना। जयपुर या अजमेर जैसे किसी केन्द्रीय स्थान में वह होना चाहिए। इसके बाद अलवर, खेतड़ी आदि शहरों में उसकी शाखाएं स्थापित करना। सबके साथ मिलना, हमें किसी से विरोध की आवश्यकता नहीं है। पंडित ना—जी को मेरा प्रेमालिंगन बता देना, वे बड़े उद्यमी हैं, समय आने पर बहुत ही

व्यावहारिक सिद्ध होंगे । मा— साहब और —जी से भी मेरा यथोचित आदर कहना। क्या धर्म-समाज नाम की ही या इसी प्रकार की एक संस्था अजमेर में स्थापित हुई है? इसके विषय में मेरे पास लिखना। म—बाबू लिखते हैं कि उन्होंने और दूसरे लोगों ने मेरे पास पत्र लिखे, पर वे मुझे अभी तक नहीं मिले। . . . मठ, केन्द्र या इस प्रकार की किसी संस्था को कलकत्ते में स्थापित करना व्यर्थ है। वाराणसी ही ऐसे कार्यों के लिये उपयुक्त स्थान है। ऐसी मेरी बहुत सी योजनायें हैं; परन्तु ये सब चीजें धन पर निर्भर करती हैं। धीरे धीरे तुम्हें सब मालूम हो जायगा। तुमने समाचारपत्रों में देखा होगा कि इंग्लैंड में हमारे आन्दोलन की नींव जम रही है। यहां सभी काम धीरे धीरे होते हैं। परन्तु जॉन बुल एक बार जिस काम में हाथ डालता है, उसे फिर छोड़ता नहीं। अमेरिकावासी बहुत फुर्तीले हैं सही, पर प्रायः आग पर पड़ी फूस की तरह होते हैं, जो जल्द ही ठण्डे पड़ जाते हैं। रामकृष्ण परमहंस अवतार हैं, इत्यादि मत सर्वसाधारण में प्रचारित न करना। अलवर में मेरे कई चेले हैं, उनकी खबर रखना। . . . महाशक्ति का तुममें संचार होगा—कदापि भयभीत मत होना। पवित्र होओ, विश्वासी होओ, और आज्ञापालक होओ।

बाल-विवाह के विरुद्ध शिक्षा देना। बाल-विवाह का समर्थन किसी भी शास्त्र में नहीं है। पर छोटी छोटी लड़कियों के ब्याह के विरुद्ध अभी कुछ मत कहना। लड़कों का ब्याह रोक दोगे, तो लड़कियों का ब्याह भी अपने आप रुक जायगा लड़की तो फिर लड़की से ब्याही नहीं जायगी। लाहौर

आर्य समाज के मंत्री को लिखना कि अच्युतानन्द नाम के जो संन्यासी उनके साथ रहते थे, वे अब कहां हैं? उनकी विशेष खोज करना। ....डर क्यों?

प्रेमपूर्वक तुम्हारा,
विवेकानन्द.

श्री माँ सारदा देवी के संस्मरण

स्वामी सारदेशानन्द

भक्तरूपी भौंरे भगवान् के पादपद्मों के मकरन्द-पान के लिए सदैव लालायित रहते हैं, श्रीभगवान् भी भ्रमररूप में भक्तहृदय-कमल के मधु का आस्वादन करते हैं। हृदयकमल का यह सार जो जीव के अंतःकरण की सूक्ष्मतम-शुद्धतम-सुन्दरतम वस्तु है, रसरूप में प्रवाहित होकर नाना विषयों और आश्रयों का अवलम्बन लेते हुए जिन विभिन्न आकारों की सृष्टि करता है, वे ही शान्त-दास्यादि रस के नाम से जाने जाते हैं। मायावी जगत् की नश्वर वस्तुएं तथा जीव के जीवन की क्षणिक अभि-व्यक्ति भी इसी रस-धारा से सजीव और पुष्ट होती है। यदि यह रस-संचार तथा उसका स्फुरण-प्रकाश और आनन्द के रूप में न होता, तो प्राणशक्ति की क्रिया भी अवरुद्ध हो जाती। जाने हो या अनजाने, तृण-लता पेड़-पौधों से लेकर ऊंचे से ऊंचा जीव मनुष्य तक सभी रस से ओत-प्रोत और आनन्द से उज्जीवित हैं। भगवान् रस के परिपूर्ण विग्रह हैं, वे रसस्वरूप हैं। भक्त को इस रस का आस्वादन कराने के लिए ही वे युग युग में नरदेह धारण कर आते हैं। वर्तमान युग में मानव समाज को उसी रस का आस्वादन कराने के लिए वे ही श्रीभगवान् आदर्श सन्तान, त्रिगुणा-तीत शिशु श्रीरामकृष्ण-रूप में तथा महाभावमयी 'निखिल मातृहृदयसागर-मन्थनसुधा-मूरति' जगज्जननी श्रीसारदा-देवी-रूप में आविर्भूत हुए हैं। इस अद्भुत मानवी - लीला के अन्तर्गत माता-पुत्र तथा पिता-कन्या के भावों का आश्रय लेते हुए मां और पुत्री के रूप में जो युगोपयोगी लीला की

गयी, उसी का थोड़ा सा परिचय देने के निमित्त ही यह चर्चा की जा रही है।

बहुत समय पहले की बात है, एक दिन एक मित्र के यहां बहुत समय के पश्चात् मिलने गया। मित्र डाक्टर हैं, उम्र चालीस के लगभग है, अच्छी खासी सम्पत्ति है, अच्छे डाक्टर के रूप में प्रसिद्ध हैं। दो पुत्रों के बाद एक कन्या रत्न की प्राप्ति हुई है, कन्या की उम्र उस समय डेढ़ बरस के करीब होगी। मित्र बचपन से ही अपनी वेश-भूषा के प्रति विशेष सजग रहते, खूब साफ-सुथरे और बढ़िया टिपटाप कपड़े पहनते। कहीं जाने पर बैठने का आसन खूब साफ न दिखने पर स्वयं ही उसे साफ कर तब उस पर बैठते, नहीं तो खड़े खड़े ही काम निपटा लेते। उनकी धोती, चादर और कुरते को किसी ने कभी तनिक भी मैला, दाग-लगा, फटा अथवा सिलवट-भरा नहीं देखा था। मुझे देखते ही मित्र दौड़े आये। बहुत दिनों बाद भेंट हुई थी। हम दोनों में बड़ा स्नेह था। नमस्कारादि करके हम लोग एक दूसरे की कुशल पूछ रहे थे। इतने में उनकी लाड़ली बेटी ठुमकती हुई वहां आयी और तुतलाती हुई मीठी बोली से "बाबा" कहते हुए हाथ पसारकर उन्हें पकड़ लिया। उन्होंने भी उसी क्षण हाथ पसारकर उसे गोद में उठा लिया और चुम्बन लेते हुए मुझसे मानो सफाई देते हुए कहने लगे, "इसके लिये मेरा सब कुछ चला गया, यहां तक कि बाबूगिरी भी। किसी प्रकार नहीं छोड़ेगी; देखते ही गोद में लेना पड़ेगा। बाहर से मरीज देखकर लौटने पर कपड़े बदलने का भी मौका नहीं मिलता, धूल में खेलती होगी, पर आवाज सुनते ही दौड़कर आयेगी और धूल से सने हुए ही पकड़ लेगी, बस

त्योंही गोद में उठाना होगा, नहीं तो बचाव नहीं, बुक्के फाड़कर रोने लगेगी। लड़कों को तो दूर दूर रखा, गोद में चढ़ने नहीं दिया, पर इसके हाथ से बच नहीं सका। यही देखिये न, मिट्टी में लोट रही थी, शरीर पर कितनी धूल जमी है, देखा कि खड़ा हूं, बस दौड़कर आ गयी।" यह कहते कहते मित्र बेटी को देखते हैं और अपनी छाती से चिपकाकर चुम्बन लेते हैं, उनके हृदय का आनन्द उनके मुख और नेत्रों से फूटा पड़ रहा है। देखा, सुना, सोचा। इस मधुर रस के आस्वादन के लिये ही तो संसार है। जब पुत्रों का जन्म हुआ था, उम्र तब कम थी, तब शायद हृदयकमल भी सम्पूर्ण रूप से विकसित नहीं हुआ था—स्नेह-माधुर्य में कमी थी। मित्र के सुखमय संसार को देखकर बड़ा आनन्दित हुआ था। जब वे अस्सी के करीब हो गये और उनकी देह बुढ़ापे से पीड़ित, अशक्त और शिथिल हो गयी, तब सुना था कि वही कन्यारत्न अपने वृद्ध पिता का पुत्रवत् लालन-पालन कर रही है, स्नेह और श्रद्धापूर्वक अपने पिता की सेवा-शुश्रूषा करके वह अपने जीवन को सार्थक तथा पिता के कष्टों को कम कर रही है। मित्र के लिये तब पुत्री ही मां बन गयी!

बहुत दिन पहले रास्ते के किनारे एक अद्भुत दृश्य देखा था। उसे भूल नहीं सकता, वह अब भी आंखों के सामने झूल जाता है। देखा मैले वस्त्र पहने एक काले रंग के दीर्घकाय आदमी को, जिसका चेहरा दाढ़ी-मूंछ में भयंकर दिख रहा था। उसने एक शिशु को, जिसके कपड़े उससे भी अधिक मैले और फटे हुए थे, दोनों हाथों से उठाया और अपनी छाती से उसे चिपकाकर मस्तक झुकाकर मानो समूचा मन-प्राण उड़ेलकर उसका चुम्बन लिया; उसके बाद पास में खड़ी

एक उसी प्रकार मैले-फटे कपड़े पहनी लड़की के हाथ में उसे सौंपकर वह अश्रुपूर्ण नेत्रों से शिशु के मुख की ओर बारम्बार पलटकर देखते हुए सामने जाते हुए भैंसों के झुण्ड के पीछे चल पड़ा। नहीं जाने से काम बनेगा नहीं, इसलिये मानो प्राणों को वहीं रखकर शून्य देह लेकर चल दिया! और प्राणों की इस पुतली को खिलाने-पिलाने के लिये, उसे सुख और आराम में रखने के लिये ही तो उसका जंगल में घूमते हुए यह भैंसों का चराना है! विस्मित हुआ! बाहर से देखने पर पत्थर की भांति शुष्क-कठोर हृदय के भीतर भी, ऐ मां महामाये, तुम इस प्रकार स्नेह-वात्सल्य के निर्झर के रूप में छिपी हुई हो! सर्वभूतों में मातृरूप में अवस्थित, हे महादेवि, नये शिकार की गर्दन से रक्तपान करती हुई शेरनी के स्तन में भी तुम्हीं स्नेहमय दुग्ध-प्रवाह हो।

जयरामवाटी के मुखर्जी-परिवार में शुभलग्न में कुल को उज्ज्वल करनेवाली दीपशिखा के रूप में एक कन्यारत्न का आविर्भाव हुआ! मुखर्जी लोग चार भाई थे—ज्येष्ठ थे रामचन्द्र, उन्हीं के यहां प्रथम सन्तान के रूप में जन्म ग्रहण करके महामाया ने गृह को आलोकित, गृहवासियों को परम आनन्दित तथा अड़ोस-पड़ोस के आत्मीय-स्वजनों को परितृप्त कर दिया। बाद में भी पड़ोसिनी वृद्धाओं ने जिस उल्लास-भरे हृदय से तथा प्रसन्न मुख से मां के शुभजन्म का अलौकिक वृत्तांत सुनाया था, उससे यही धारणा हुई कि यह असाधारण बालिका जन्म से ही सबके चित्त को खींचनेवाली परम स्नेह की पात्री थी। मां की मां जब एक बार अपने पिता के यहां शिउड़ ग्राम में एक बिल्व वृक्ष के नीचे बैठी हुई

थीं, तब उन्होंने अलौकिकसौन्दर्य और माधुर्य की मूर्ति एक छोटी बालिका के दर्शन किये थे, जिसने उनके गले में बांह डालकर उनके यहां कन्यारूप में जन्म लेने की इच्छा प्रकट की थी। इस दिव्य स्पर्श के फलस्वरूप वे आनन्द से इतनी विव्हल हो गयीं कि उनका बाह्य ज्ञान लुप्त हो गया था। इस घटना के कुछ समय बाद ही सारदा का जन्म हुआ। अतएव यदि जन्म लेते ही कन्या सबकी दुलारी हो गयी हो, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात! इस सम्बन्ध में बाद में पकी उम्र हो जाने पर भी, उनके अविवाहित चाचा ईश्वरचन्द्र जो सब बातें कहा करते थे, उसका उल्लेख पहले हो चुका है। यहां पर तो हम अपनी आंखों के सामने घटी एक घटना का उल्लेख करेंगे। मां की एक चाची थीं——भावि मौसी की मां। वृद्धा उस समय अशक्त और अन्धप्राय: हो गयी थीं। मां ने कलकत्ता जाने के पूर्व एक भक्त-संतान को वृद्धा के पास हाथ में कुछ देकर भिजवाया और उन्हें प्रणाम जताकर उनका आशीर्वाद ले आने के लिये कहा। शरीर अस्वस्थ होने से मां स्वयं नहीं जा पा रही थीं। मां ने कहलाया था, "चाची को मेरा भक्तिपूर्ण दंडवत् प्रणाम देना और कहना कि शरीर अस्वस्थ होने से स्वयं आकर पदधूलि और आशीर्वाद नहीं ले सकी, इसलिये वे बुरा न मानें, अपराध क्षमा करके स्नेह-आशीर्वाद दें।" वृद्धा को जब मां का संवाद दिया गया, तो वे प्रेमाश्रु बहाते हुए कहने लगीं, "सारदा हमारे कुल की गौरव है। भगवान् की कृपा से वह दीर्घकाल तक स्वस्थ, सुखी और प्रसन्न रहे; उसे मेरे प्राणों का आशीर्वाद अच्छी तरह बतलाना।" उसके पश्चात् वृद्धा उच्छ्वसित कंठ से हाथ जोड़ कर कातर भाव से सजल नयन हो भगवान् के निकट बार बार कुल की गौरव

सारदा को दीर्घकाल तक स्वस्थ और सुखी बनाये रखने के लिये प्रार्थना करने लगीं। वृद्धा की इस स्नेह-ममता को देख वह भक्त विस्मित हुआ और वापस आकर उसने मां को सब बतला दिया। सुनकर मां का मन भी पुलकित हो उठा।

बड़े परिवार के ऐसे स्नेह-समुद्र के बीच बालिका का उदय हुआ था। स्नेह-रस में उसका लालन-पालन हुआ, स्नेह-सुधा से उसकी पुष्टि और वृद्धि हुई। मां का पितृकुल निर्धन ब्राह्मण का था, शारीरिक श्रम से जीवकोपार्जन होता। बाल्यकाल से ही बालिका के स्नेह-वात्सल्य के रसास्वादन से घर के लोग अपनी क्लान्त देह और अवसन्न मन की थकावट दूर करते। गरीब परिवार में जहां सबकी मिली-जुली चेष्टा से भरण-पोषण और निर्वाह होता है, परस्पर के प्रति सौहार्द्र अधिक रहता है। स्नेहपात्र बाल-बच्चे उस योगसूत्र के तन्तु होते हैं। मां ने मुखर्जी-परिवार को स्नेहपाश के अटूट बंधन में बांध लिया। कुछ बड़ी होते ही वे घर के कामों में सबकी सहायता करने लगीं। बालिका ने सबके हृदय में घर बना लिया। जो भी बच्ची को देखता, वही उससे स्नेह करता, प्रेम करता। माता की गोद में बैठ वह जहां जाती, वहीं सबकी दृष्टि उसके ऊपर खिच आती।

बालिका-अवस्था में शिउड़ में मामा के यहां वन-भोज के समय एक जनसमुदाय के बीच उसने स्वयं श्रीरामकृष्ण का पतिरूप में वरण किया था। "किससे ब्याह करेगी ?" इस प्रश्न के उत्तर में उसने श्रीरामकृष्ण की ओर अंगुली से इंगित किया था। तब भले ही वह हंसी-विनोद की बात बनकर रह गयी थी, पर भविष्य में वही घटा था, और हम जानते हैं, कामारपुकुर में इस बालिका-वधू ने सबके पास परम स्नेह पाया था, कन्यारूप में। इस स्नेह-सिंचन से धनी भी

वंचित नहीं थी। (धनी की छोटी बहन शंकरी ने भी बाद में मां की सेवा-शुश्रूषा करके अपने जीवन को सार्थक किया था)। श्रीरामकृष्ण के साथ इस समय भले ही अल्पकाल के लिये ही उसका रहना हुआ था, फिर भी उनके अपार स्नेह-प्रेम का स्पर्श उसने प्रचुर परिमाण में पाया था।

यौवनावस्था में कदम रखने के बाद उन्होंने दक्षिणेश्वर में आकर किस प्रकार श्रीरामकृष्णदेव का देहगन्धहीन अपार स्नेह फिर से पाया, किस प्रकार श्रीरामकृष्ण ने साक्षात् जगन्माता षोड़शी देवी के ज्ञान से उनकी पूजा करके तथा और भी विभिन्न घटनाओं के माध्यम से उनमें विश्वमातृत्व को विकसित किया तथा मातृस्नेह से आकृष्ट हो स्वयं को उसमें निमज्जित कर धन्य होने के लिये किस प्रकार असंख्य नर-नारी "मां" "मां" कहते हुए उनके निकट दौड़े आने लगे, यह हम सभी जानते हैं। किस प्रकार क्रूर डाकू उनके मुख से 'बाबा, मैं तुम्हारी बेटी सारदा हूं"-- यह एक वाक्य सुनते ही सचमुच ही हृदय से उन्हें अपनी कन्या समझने लगा, वह भी हम जानते हैं।

श्रीरामकृष्ण सारदा देवी को साक्षात् जगज्जननी के रूप में ही देखते थे, "जो मां मंदिर में हैं, उन्होंने इस शरीर को जन्म दिया है और अभी नौबत में रह रही हैं, और वे ही अभी मेरे पैर दबा रही हैं। सचमुच साक्षात आनन्दमयी के रूप में ही तुमको सर्वदा देखता हूं।"-- उन्होंने कहा था।

ये सब हमलोगों की सुपरिचित घटनायें हैं, इसीलिये अधिक विस्तार से नहीं दुहरा रहा हूं।

श्रीरामकृष्ण के देहत्याग के पश्चात् मां भक्त लोगों के साथ वृन्दावन गयीं और कुछ समय वहां रहीं। वहां उनका

शोकतप्त हृदय बहुत कुछ शान्त हुआ। वे कठोर साधन-भजन में डूब गयीं। यहीं उनकी विशेष कृपा का आरम्भ हुआ। कहना चाहिये कि कृपा-निर्झरिणी ने प्रथम यहीं स्वयं को प्रकट किया। श्रीरामकृष्ण के आदेश से उन्होंने स्वामी योगानन्द को दीक्षा दी। यही कृपास्रोत धीरे-धीरे विस्तृत होकर बाद में एक अविराम धारा के रूप में प्रवाहित होने लगा और उसने असंख्य अध्यात्म पिपासुओं की तृष्णा को शान्त किया, असंख्य पापियों-तापियों को "क्षमारूपा" मां की गोद में उठाकर उनकी देह में लगी धूल-कीच को पोंछकर अमृत लोक, आनन्द लोक का मार्ग दिखलाया।

एक वर्ष से अधिक वृन्दावन में बिताकर मां हरिद्वार, ऋषिकेश, पुष्कर, प्रयाग, काशी आदि के दर्शन करके कामारपुकुर वापस लौटी थीं। गोलाप-मां साथ साथ आयी थीं, किंतु कुछ समय पश्चात् मां को वहां अकेली छोड़ उन्हें कलकत्ता लौट जाना पड़ा था, क्योंकि वहां उनका रहना संभव नहीं था, रहने से मां-बेटी दोनों का कष्ट बढ़ता। कामारपुकुर के निःसंग जीवन में मां का मन सदा ऊर्ध्वलोक में विचरण करता और बाहरी अभाव-अड़चनों एवं शारीरिक दुःख-कष्टों का भान नहीं होता। उस समय कामारपुकुर में मां के जेठ रामेश्वर की पत्नी, पुत्र रामलाल और शिवराम की स्त्री, कन्या लक्ष्मी दीदी प्रायः ही रहा करते तथा रामलाल दादा अधिकतर दक्षिणेश्वर में रहने पर भी बीच-बीच में कामारपुकुर आते रहते। मां के भिक्षा-पुत्र शिवराम प्रायः सदा वहीं उपस्थित रहकर रघुवीर की पूजा और घर-बार की देखभाल किया करते। मां का मन उस समय सर्वदा ही अतीन्द्रिय राज्य में विचरण करता रहता। इसलिये संसार की झंझटों से अपने को पूरी तरह से अलग रखकर वे अपने

भाव से चलतीं। ठाकुर जो घर उनको दे गये थे, उसी में अलग से रहतीं, रसोईघर के एक हिस्से में अपने हाथों से भोजन पकातीं और ठाकुर को निवेदित कर शाकान्न प्रसाद ग्रहण करतीं। इस प्रकार उनके दिन बीतने लगे। जेठ के पुत्रों के संसार की झंझट से उनका विशेष संपर्क नहीं रह गया।

लाहाबाबू की कन्या वृद्धा प्रसन्नमयी और ठाकुर की भिक्षा-माता धनी लुहारिन के देहत्याग के पश्चात् उनकी कनिष्ठा भगिनी शंकरी उस समय मां की पुत्रवधू या पुत्री जैसे ही स्नेह-संभाल करती थीं, ऐसा सुना जाता है। और एक बाल-विधवा की बात सुनी है, उनका नाम याद नहीं आ रहा है—वे श्रीठाकुर के बाल्यकाल के सखा वृद्ध श्रीनिवास अर्थात् चिनु शांखारी की कन्या थीं। वे भी कुछ पैसेवाली थीं तथा प्रसन्नमयी की भांति देव-सेवा, साधु-सेवा और धर्म-कर्म में विशेष रुचि रखती थीं। सन्तानहीना इन तीनों महिलाओं की ठाकुर और मां के प्रति वात्सल्य-भक्ति थी और जब भी मां कामारपुकुर में होतीं, अपने जीवित रहने तक वे मां की कन्या के समान देखभाल करतीं, हमेशा खोज-खबर लेतीं, विभिन्न बातों में सहायता करतीं, यहां तक कि आवश्यक होने पर शंकरी उनके पास आकर रात्रिवास भी करतीं। दक्षिणेश्वर में रहते समय ठाकुर ने दिव्यभाव में आरूढ़ होकर जब मंदिर में पुजारी का काम छोड़ दिया तब, भी दक्षिणेश्वर कालीबाड़ी के अधिकारियों ने उनके लिये नित्य प्रसाद और पूर्व में मिल रहा मासिक वेतन नियमित रूप से देने की व्यवस्था की थी। उनके द्वारा रुपया ग्रहण न करने पर वह श्री मां को दिया जाता था, किंतु मां के दक्षिणेश्वर छोड़ने के बाद वह रुपया बन्द हो गया। यद्यपि नरेन्द्रनाथ आदि प्रमुख शिष्य-संतानों ने उस वेतन को बनाये रखने के लिये बहुत चेष्टा

की थी, तथापि उसका कोई फल नहीं निकला। ठाकुर मां के लिये सामान्य कुछ रुपए की व्यवस्था कर गये थे। उसी से महीने-महीने कुछ मिल जाता, बस वही एक सम्बल था। फिर ठाकुर ने शिउड़ में जमीन खरीदवाकर रघुवीर के नाम से देवोत्तर कर दी थी। उस जमीन के धान का अंश मां को प्राप्त होता। साथ ही कामारपुकुर के सुखलाल गोस्वामी ने क्षुदिराम को दानस्वरूप जो एक बीघा दस छटांक जमीन दी थी उसके धान का भी एक अंश मां पातीं। वे इस धान को अपने हाथ से ढेंकी में कूट चावल बनातीं, और जब जैसी तरकारी-भाजी जुटती, अपने हाथों से पकाकर ठाकुर को भोग लगा प्रसाद पाते हुए जीवन यापन करतीं। उनका मन हरदम अतीन्द्रिय लोक में रहता, इसलिये बाह्य दुःख-कष्टों का भान न होता। ठाकुर ने उन्हें कामारपुकुर में वास करने के लिये कहा था, मां उसी आज्ञा का पालन कर रही थीं। मां के अन्तरंग संन्यासी बेटों को स्वयं अपना ही सिर छुपाने की जगह नहीं थी, पेट में डालने के लिये अन्न का अभाव था, तब वे लोग मां की भला क्या सेवा कर पाते ? फिर, उस समय कामारपुकुर में मां को खाने-पहिनने का ऐसा कष्ट था यह बात उन्हें मालूम भी नहीं थी। ज्योंही मां के अभावों और शारीरिक कष्ट की बात उनके बच्चों के कानों में पड़ी, उन लोगों ने गृहस्थ भक्तों के साथ विचार-विमर्श किया और मां के रहने की सुव्यवस्था करके वे मां को कामारपुकुर से कलकत्ता ले आये।

इसके बाद से मां कामारपुकुर और कलकत्ता दोनों जगह बीच-बीच में रहने लगीं। बाद में जब उनकी गर्भधारिणी माता श्यामासुन्दरी ने देखा कि उनकी प्राणों से भी प्रिय कन्या को कामारपुकुर में रहने में बड़ी असुविधा होती है तो

उन्होंने बहुत प्रकार से समझा-बुझाकर मां को पित्रालय जयरामवाटी में रहने के लिये राजी कर लिया। अपनी गर्भ-धारिणी के प्रति मां का अतिशय अनुराग था तथा उनके प्रति उनकी गर्भधारिणी का भी असीम खिचाव-स्नेह था, इसलिये वे उनके अनुरोध को नहीं टाल सकीं। पहले पहल जयरामवाटी में भी मां का अधिक दिन रहना नहीं होता था, पर जब भी वे रहतीं, तब सांसारिक कार्यों में अपनी मां की सब प्रकार से सहायता करते हुए भी तथा अपने हाथों से बहुत से कार्य करने पर भी उनका मन उच्च लोक में ही विचरण करता रहता। अधिकांश समय वे अपने भाव में तन्मय रहतीं, संसार या संसारी लोगों के साथ कोई संपर्क नहीं रखतीं। कोई उनके समीप रहने का भी साहस नहीं जुटा पाता। पर भक्त-संतानों के प्रति मां सदैव स्नेहपूर्ण व्यवहार करतीं। बीच-बीच में भक्तगण बहुत कष्ट उठाकर दुर्गम रास्ता पार कर उनके दर्शन करने आते रहते। वे कुछ काल उनके चरणों के समीप वास करते और उनकी अपार्थिव स्नेहसुधा का पान कर अपने प्राणों को शीतल करते। बाद में जब राधू का जन्म हुआ तब मां का मन कुछ नीचे उतरा और तब मां की अपार स्नेह-कृपा का आस्वादन सर्वसाधारण लोग पाने लगे।

जिस प्रकार मां अपनी भक्त-संतान के साथ उत्तर भारत के तीर्थों के दर्शन हेतु गयीं और उच्च आध्यात्मिक अनु-भूतियां प्राप्त कर उन स्थानों की महिमा को स्थापित किया, उसी प्रकार भक्तों के विशेष आग्रह पर वे सदलबल दक्षिण-भारत के भी रामेश्वर, मीनाक्षी आदि सुप्रसिद्ध तीर्थों के दर्शन हेतु गयीं। इन स्थानों पर भी मां को उच्च आध्यात्मिक अनुभूतियां हुईं और संगी लोगों को भी विशेष आनन्द प्राप्त

हुआ। उस समय मद्रास और बंगलौर के रामकृष्ण मठ में कुछ समय तक रह कर मां ने बहुत से भक्तों पर कृपा की। भिन्न प्रांत के ये नर-नारी मां की भाषा नहीं समझते थे, मां भी उनकी भाषा नहीं समझ पाती थीं, किंतु मां की कृपा प्राप्त कर वे लोग बहुत उल्लसित हुए और स्वयं को बड़ा कृतार्थ मानने लगे। मां भी उनके आंतरिक भक्ति भाव से बड़ी संतुष्ट हुईं। मां और वे भक्त एक दूसरे से एकदम अनभिज्ञ थे—आचार-व्यवहार, पोशाक-वस्त्र सब कुछ भिन्न था, वार्तालाप संभव नहीं था, फिर भी ऐसा आत्मसमर्पण और ग्रहण! कैसे संभव हुआ होगा? कैसे मां के दो-एक शब्दों के उच्चारण, हाव-भाव और भावभंगी ने बहुत से नरनारियों को स्नेह के अच्छेद्य बंधन में बांध लिया, यह सोचकर सच ही विस्मित रह जाना पड़ता है। पर ज्योंही मां और संतानों के हृदय के चिर-मिलन की बात याद आती है, तब कोई संशय नहीं रह जाता। छोटे शिशु और उसकी मां के बीच जो सम्बन्ध होता है, उसमें क्या मां के साथ सुन्दर सुस्पष्ट वार्तालाप या शिष्ट-शोभन आचार-व्यवहार की अपेक्षा रहती है? मां ने संतान की ओर ताका और संतान ने मां के मुख की ओर—बहुत हुआ तो दोनों के दो अस्पष्ट शब्द "मां" और "बेटे" ध्वनित हुए! इसके अलावे और क्या चाहिए? अरे मन, बाहरी आडम्बर से युक्त ढोल-घण्टे-शहनाई बजाकर, ढेर ढेर पुष्पमाल्य-चंदन-अगरु-धूप-दीप सजाकर, मनोहर चर्व-चोष्य-लेह्य-पेय नैवेद्य निवेदित करके भी तुम्हें ऐसा आनन्द नहीं मिला, तुम्हारे हृदय की आकांक्षा, प्राणों की प्यास नहीं मिटी, बल्कि अशांति और बढ़ती ही गयी। जरा देखो, समझो और सीखो इस नवीन प्रणाली की दीक्षा-साधना को। तुम्हारे शत शत जन्मों के पापों को एक मुहूर्त में नष्ट करने के लिये जगत्कारण

की यह कितनी करुणा है ! सब भूलकर, सब छोड़कर, व्याकुल होकर दौड़े चलो मां के पास— मां कहकर पुकारो, जननी उसी क्षण हाथ बढ़ाकर तुम्हें गोद में उठा लेगी और तुम स्नेहमयी पुकार सुन पाओगे — "बेटे आओ"; बस, उसी क्षण तुम अपनी दीक्षा-साधना-सिद्धि की परिसमाप्ति जानना !

दक्षिण भारतवासियों की भांति देश-विदेश के अन्य भाषाभाषी भक्तों पर भी मां ने इसी प्रकार विभिन्न समयों में कृपा की थी, उन सबने भी उसी प्रकार अपने अपने हृदय में मां की अपार स्नेह-कृपा की उपलब्धि कर अपने जन्म को सार्थक किया था। जिस भगवान्, परमात्मा या परब्रह्म-तत्व को हम "मैं उनका दास हूं", "मैं उनका अंश हूं", या "वही मैं हूं", कह कर पाना चाहते हैं, उसकी उपलब्धि का सबसे सुगम मार्ग है ऐसा भाव रखना कि "तुम मां हो, मैं संतान हूं"— इहकाल-परकाल-चिरकाल से ! स्थूलदेह, सूक्ष्म देह, कारणदेह तुम्हीं से प्राप्त हुई हैं, तुम्हीं को आश्रय करके वे स्थिर हैं, तुम्हीं में वे मिल जायेंगी, तुम्हीं महाकारण हो, जगज्जननी हो ! मैं सब समय सभी देहों में तुम्हारी ही गोद में हूं, तब भी दुःख-कष्ट पाता हूं, रोता हूं—तुम शांत करो, इस बार और नहीं भूलूंगा, और कुछ नहीं चाहूंगा—चिर-शांति दो। नवयुग की यह दीक्षा पाकर बाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष स्वदेशी-विदेशी बहुत से लोगों ने जीवन सार्थक किया था।

एक बार मां स्व. बलराम बाबू के पुत्र रामकृष्ण बसु और उनकी जननी तथा अन्यान्य आत्मीय-परिजनों के विशेष आग्रह पर उनकी जमींदारी के गांव कोठार के देवालय जाकर कुछ दिन रहीं। उस समय एक देशी ईसाई भक्त पर मां ने कृपा की थी। उन दिनों ऐसे कार्य समाज-विरुद्ध समझे जाते थे। इसलिये मां को ऐसा करते देख विस्मित हो जाना पड़ता

है। वहां से वे जगन्नाथ जी के दर्शनों के लिये पुरी जाकर कुछ दिन रहीं। वहां कुछ भाग्यशाली अति आचारनिष्ठ उड़िया ब्राह्मण भी उनकी कृपा पाकर धन्य हुए थे। सभी तीर्थों में मां को अलौकिक दर्शनादि हुए हैं, उनमें उच्च भक्तिभाव प्रगट हुआ। तीर्थयात्रा के प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि मां भक्तों के विशेष आग्रह पर काशीजी भी गयी थीं, और वहां कुछ दिनों तक रही थीं। उस मुक्ति-क्षेत्र में हुए बाबा विश्वनाथ और अन्नपूर्णा के प्रत्यक्ष दर्शन और महिमा की बातें उन्होंने भक्त-संतानों के पास मुक्त कण्ठ से कही थीं। ठाकुर गयाधाम या पुरी नहीं गए थे, जानेपर अति उच्च भाव में आरूढ़ हो जाने से उनके देहत्याग की आशंका थी। यह सुनकर भक्त लोग आशंकित हो गए थे और ठाकुर ने स्वयं भी उसके लिये उत्साह नहीं दिखलाया था। इसलिये ठाकुर ने मां को गया जाकर पितरों को पिण्डदान करने के लिये कहा था। मां ने वहां जाकर बड़े विश्वास भक्ति और निष्ठा के हाथ वे सब कार्य सुसंपन्न किए थे। आमरण धरना देकर पति की बीमारी दूर करने के लिये ठाकुर की अस्वस्थता के समय मां तारकेश्वर भी गयी थीं किंतु दैव-शक्ति से जान गयी थीं कि यह असंभव है। एक बार स्वयं की बीमारी के समय मायके में रहते समय उन्होंने "मानता" मानी थी, उसी मानता की पूजादि के लिये पहले भी एक बार मां वहां गयी थीं।

सब देवी-देवताओं की पूजा में, व्रत-श्राद्ध-तर्पणादि अनुष्ठान में मां का विश्वास था और सामर्थ्य के अनुसार वे इन सबका पालन भी करतीं। इसी भाव से प्रेरित हो उन्होंने बेलूड़ में नीलाम्बर बाबू के बगीचे में रहते समय एक बार दुःसाध्य पंचतपा-साधना की थी। ग्रीष्मकाल की

प्रचड धूप में छत पर चार दिशाओं में गोबर के कण्डे की आग जलाकर उसके बीच सूर्योदय से सूर्यास्त तक बैठी रहतीं। इस प्रकार लगातार सात दिन तक तपस्या की। योगीन-मां ने भी उनके साथ इस व्रत का अनुष्ठान किया था। तीर्थयात्रा-व्रत-पूजा इत्यादि सभी धार्मिक कर्मों में उनकी ऐकान्तिक निष्ठा दर्शनीय थी। श्रद्धा-भक्ति के साथ क्रियाओं का अनुष्ठान, प्रचलित प्रथाओं का अनुसरण, पण्डे-पुजारी-ब्राह्मणों के प्रति सम्मान प्रदर्शन और यथोचित दक्षिणा देकर उन्हें संतुष्ट करना, और सर्वोपरि, लोक-व्यवहार में किसी को किसी प्रकार से चोट न पहुंचाना, यहां तक कि जो पास में न होते उनकी सेवा-शुश्रूषा के लिए भी यथोचित व्यवस्था करना, उनके मन में किसी प्रकार का असन्तोष उत्पन्न न हो इसके लिए सतत चेष्टा करना-मां की ये सब बातें अतीव हृदयग्राही थी। जो लोग उनकी सेवा करने के लिए उनके साथ रहते, उनके प्रति वे जननीतुल्य स्नेहमय व्यवहार करके उनको सुखी रखतीं और उन लोगों से वे जो सेवा लेतीं, उसके बदले वे स्वयं भी उन लोगों की सेवा करके उन लोगों को सुखी बनाये रखने में सदैव तत्पर रहतीं।

सामान्य दैनन्दिन व्यवहार में भी मां सब समय दूसरों का मन देखकर चलतीं, जिससे किसी बात या काम से किसी के मन पर चोट न लगे। वैसे उन्हें संसार की किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं थी, वे तो सर्वदा आत्मलीन रहतीं! मां के इस अद्भुत भाव को, भावातीत अवस्था को पूजनीया योगीन - मां गोलाप - माँ ही दूसरों की अपेक्षा अधिक प्रत्यक्ष करतीं। इसीलिए प्रायः देखा जाता कि उन लोगों के मन-प्राण मानो सदा ही मां के पास पड़े रहते। दैनंदिन व्यवहार में एक ओर जहां उन लोगों

की मां के प्रति साक्षात् इष्टदेवीज्ञान के फलस्वरूप श्रद्धा-भक्ति का अन्त नहीं था, वहां दूसरी ओर वे श्री मां को एक ही आधार में अपनी मां और बेटी समझते हुए उनकी देह को स्वस्थ, सबल, नीरोग एवं आराम से रखने के लिए प्राण-पण से चेष्टा और उद्यम करतीं। मां भी दोनों ही प्रकार से उनकी भक्ति-सेवा और स्नेह-वात्सल्य स्वीकार कर उन्हें परम आनन्दित करतीं। फिर, जो स्वामी विवेकानन्द द्वारा सारदानन्द के नामसे विभूषित हुए थे, वे मातृगत प्राण शरत् महाराज— वे मां के द्वारपाल——महाभावमयी देवी का दोनों भाव में ही सदा प्रत्यक्ष अनुभव करते थे। 'उद्बोधन' के द्वार से लगे कमरे में बैठकर महाराज पहरा देते, जिससे कोई भी क्यों न हो जब तब जाकर मां को तंग न करे, उनके विश्राम में विघ्न न डाले, कोई अवांछित अनाधिकारी व्यक्ति माँ का स्पर्श करके उनकी पवित्र देह में जलन उत्पन्न न करे, हल्ला-तमाशा करने का मौका न पाये। मां का एक फोटो भी मिलना कठिन बात थी ! मां छिपी ही रहना चाहती थीं और शरत् महाराज भी उसके लिए सतत् प्रयत्नशील रहते, और जब मां स्वयं किसी भक्त पर विशेष रूप से कृपा करतीं, तब भक्तिविनम्रचित्त से सिर झुकाकर कहते, 'इच्छामयी की जैसी इच्छा'। गोलाप-मां की तीक्ष्ण दृष्टि रहती, जिससे कोई भावुक भक्त अपनी भावुकता की अतिशयता में मां को अड़चन में न डालें। तभी तो जब एक बार कोई भक्त मां के श्री चरणों में अंजलि देकर प्रणाम करने के पश्चात् न्यास-प्राणायाम इत्यादि करते हुए बहुत देर तक पूजा करता रहा, तब गोलाप-मां ने उसे डांटते हुए कहा, "यह क्या लकड़ी की देवी पाये हो जो न्यास-प्राणायाम करके उसमें प्राण फूंकोगे ? मां गर्मी के मारे परेशान जो हो रही हैं !" मां को

पसीने से लथपथ देख गोलाप-मां अस्थिर हो उठीं, जल्दी जल्दी वे मां को उठाकर भीतर ले आयीं और शरीर की चादर निकाल दी, तब कहीं उन्हें कुछ अच्छा लगा। पर इस प्रकार सतर्क दृष्टि रखने से भी क्या होगा ? जगदम्बा तो कभी कभी सब नियम-कानूनों को ताक पर रखकर नितान्त अवांछित व्यक्ति पर भी कृपा कर बैठती हैं, फिर भले ही स्वयं को कष्ट उठाना पड़े। ऐसी दशा में गोलाप-मां, योगीन-मां चुपचाप अश्रुपूर्ण नेत्रों से देखती रह जातीं। बच्ची मां के लिए रोती है और मां बच्ची के लिए विलाप करती हैं, दोनों का एक दूसरे के प्रति एक-सा खिचाव होता है; मां-रूप में, बच्ची रूप में यह अद्भुत लीला है।

जयरामवाटी में मां मलेरिया से बहुत बीमार हैं। पूजनीय शरत् महाराज; योगीन-मां और गोलाप-मां कलकत्ता से अत्यन्त चिन्तातुर हो जयरामवाटी के लिए रवाना हुए। साथ में सेवक-सेविकाएं और दो विशेषज्ञ डाक्टर भी हैं-होमियोपैथ कांजिलाल और एलोपैथ सतीश बाबू। जब मां ने उन सबका आना सुना, तो उन्हें चिन्ता व्याप गयी कि इतने दुर्गम रास्ते से जाने कितने कष्ट सहकर वे लोग आ रहे हैं। स्वयं की बीमारी की बात तो भूल ही गयीं। "इतनी भारी देह लेके आना- शरत् को जाने कितना कष्ट हो रहा होगा-योगेन, गोलाप भी कितना कष्ट करके आ रही हैं।" मां यह सब कह रही हैं और पास में मौजूद सेवक-सन्तान से बीच बीच में पूछ रही हैं, "अच्छा, शरत् इतना कष्ट करके क्यों आ रहा है ?" उसने भी जैसे छोटी बच्ची को समझाते हैं उसी प्रकार कई तरह से समझाने की कोशिश की। जब उन लोगों के पहुंचने का समय निकट आ गया, तो मां एकदम अस्थिर हो उठीं, "समय हो गया, धूप में वे लोग कितना कष्ट

करके, पैदल चलके आ रहे हैं !" उन लोगों को विष्णुपुर से कोआलपाड़ा तक घोड़ागाड़ी में और उसके बाद पैदल आने की बात थी। वे लोग मां के यहां आ पहुंचे। शरत् महाराज बाहर कमरे में बैठकर प्रतीक्षा करने लगे। योगीन मां और गोलाप - मां भीतर जाकर मां की शय्या के पास उपस्थित हुईं।

योगीन-मां को देखते ही दुःखित भाव से मां बोल उठी, "अरी योगेन, क्यों कष्ट करके तुम लोग आयीं ?" योगीन - मां ने भी अश्रु पूर्ण नेत्रों से रुदन के स्वर में कहा, "तुमको बिना देखे रह नहीं पा रही थी न, मां। बीमारी सुनकर प्राण छटपटा रहे थे, इसीलिए भागी चली आयी।" चिकित्सा-सेवा और औषध-पथ्यादि से मां शीघ्र ही स्वस्थ हो उठीं।

(क्रमशः)

वह जो पानी देखते हो, जिसका स्वभाव ही नीचे की ओर जाना है, सूर्य-किरण उसे भी आकाश की ओर खींच लेती है। इसी प्रकार मन की गति भी स्वभाव से निम्नगामी है— भोग की ओर है। भगवत्कृपा से वही मन उर्ध्वगामी हो जाता है।—

माँ सारदा।

स्वामी अभेदानन्द

स्वामी ज्ञानात्मानन्द

१६२१ के सितम्बर महीने में श्रीमत् स्वामी अभेदानन्द महाराज अमेरिका से भारत लौटे। लगभग उसी समय हम लोगों ने मठ में प्रवेश लिया था, उनकी वापसी की बात उसके पहले ही वरिष्ठ साधुओं से काफी सुनी थी। वे स्वामी जी (स्वामी विवेकानन्द) के आदेश से पाश्चात्य देशों में गए थे। उन्होंने पहले लंदन में कुछ दिन प्रचारादि कार्य किया था, फिर अमेरिका के न्यूयार्क नगर में २५ वर्ष की दीर्घ अवधि तक प्रचारादि कार्य करके अब भारत पहुंचे है, ऐसा उन लोगों से सुना था। उनके अगाध पाण्डित्य की बात भी उन्हीं लोगों से पता लगी थी। उनके दर्शन और संग-लाभ की इच्छा हम लोगों के मन में स्वतः ही जाग्रत् हो गयी थी।

वे सितम्बर में मठ पहुंचे थे। अच्छी तरह याद है, उस दिन मठ के उनके कई परिचित एवं उत्साही साधु उनको जहाज से अगवानी करके लिवा लाने के लिए कलकत्ता के प्रिंसेप घाट पर गए थे। जहाज रंगून से आ रहा था। साधुओं ने वहां कई घंटे प्रतीक्षा करने के बाद सुना कि उस समय ज्वार न होने से जहाज के आने में बहुत देर होगी और बहुत सम्भव है दो-अढ़ाई बजे के पहले जहाज घाट पर न लग पाए।

विवश हो साधुओं ने सोचा कि वहां भूखे बैठे रहने की अपेक्षा मठ जाकर भोजन करके समय पर लौट आएंगे

और ऐसा निश्चय कर वे मठ लौट आए। किन्तु इधर हठात् हवा और स्रोत के अनुकूल होने से जहाज प्रायः एक बजे के बीच ही घाट पर आ लगा। पूजनीय अभेदानन्दजी वहाँ मठ के किसी साधु को न देख स्वयं ही एक घोड़ा-गाड़ी (तब मोटर या टैक्सी गाड़ी नहीं निकली थी) तय करके मठ आ उपस्थित हुए। उनको इस प्रकार आए देख सभी अवाक् रह गए और जो उनको लेने गए थे, वे लोग तो अत्यन्त हड़बड़ा गए। किन्तु उन्होंने किसी को दोष न देते हुए अपना सामान यथास्थान संभालकर रखने के लिए कहा। पूजनीय महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्दजी) तब मठ में नहीं थे, वे पूजनीय महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द जी) के साथ दक्षिण-भारत के भ्रमण पर गए हुए थे। उन्हीं के कमरे में पूजनीय अभेदानन्द जी महाराज को ठहराने की व्यवस्था की गयी थी। अतः हम लोगों ने वहीं उनका सामान एक एक करके जमाकर रख दिया।

मैं कुछ दिन पहले ही साधु बना था, फिर भी उनकी सेवा का भार सर्वप्रथम मुझ पर ही पड़ा। मेरे सहयोगी के रूप में मठ के स्वामी मनीषानन्दजी नियुक्त हुए। महापुरुषों की सेवा इसके पहले मैंने कभी नहीं की थी, इसलिए मेरी सेवा में नाना प्रकार की त्रुटियां होने लगीं। पर पूजनीय अभेदानन्द महाराज ने इसका थोड़ा भी बुरा न माना और मुझसे कहा, "तुम्हारा सेवा करने का जब इतना अल्प ज्ञान है, तो ऐसा करो कि मनीषानन्द को ही करने दो और तुम उसके सहयोगी के रूप में रहो।" मैंने आनन्द से वह स्वीकार किया और तब से मनीषानन्द के सहयोगी के रूप में यथासाध्य उनकी सेवा करने लगा।

तब से १६२२ तक, उनके कामीर जाने के पहले तक, मुझे जो उनका इस प्रकार सान्निध्य -लाभ हुआ था और उनकी सेवा करने का थोड़ा सा सौभाग्य मिला था तथा उस समय उनको जैसा मैंने देखा था एवं उनसे मूल्यवान उपदेश सुने थे, उन्हीं बातों को यहां पर कुछ कुछ लिखने की चेष्टा की है ।

वे जहाज-घाट से मठ आकर जब घोड़ा-गाड़ी से उतरे थे, तब हम लोगों ने सोचा था कि वे कोट-पैंट पहने हुए साधु के रूप में दिखेंगे । किंतु देखा कि वे भारत के साधारण संन्यासियों जैसा ही गेरुआ वस्त्र पहने हुए हैं । यह पूछने पर कि गेरुआ वस्त्र उन्हें कहां से मिले, उन्होंने बतलाया कि रंगून रामकृष्ण आश्रम के तत्कालीन अध्यक्ष स्वामी श्यामानन्द जी ने उन्हीं के आदेश से पहले से ही तैयार करवा रखे थे ।

थोड़ी देर विश्राम के उपरांत मठ के ठाकुरघर (प्राचीन) की ओर उनकी दृष्टि गयी । वह श्री ठाकुरजी के दोपहर के भोग-नैवेद्य के उपरांत काफी समय पहले बन्द हो चुका था । सतृष्ण नेत्रों से देखते देखते वे बोल उठे, "हमको क्या इस समय एक बार ठाकुर के दर्शन करने नहीं दोगे ?" उनका आग्रह देख मठ के तत्कालीन पुजारी स्वामी ज्योतिर्मयानन्दजी ने उसी क्षण मंदिर के कपाट खोल दिये । उन्होंने भी मन्दिर के भीतर प्रविष्ट हो श्री ठाकुरजी को साष्टांग प्रणाम किया । ज्योतिर्मयानन्द जी हम लोगों से कहने लगे, "श्री ठाकुर के अन्तरंग शिष्य-सन्तान आये हैं, वे ठाकुर जी के दर्शन करना चाहते हैं, तब क्या मठ के साधारण नियम मानने से चलेगा"! इसलिए असमय होने पर भी

उनके लिए मन्दिर खोल दिया। श्री ठाकुर यदि इस समय सशरीर उपस्थित होते, तो अनेक वर्षों बाद विदेश से लौटे अपनी इस सन्तान को देखकर कितना आनन्द न मनाते!"

उनके मन्दिर से लौटने पर उनसे जब पूछा कि और किस प्रकार उनके लिए व्यवस्था करनी होगी, उन्होंने एकदम कहा, "श्री ठाकुर का प्रसाद जिस प्रकार तुम सब लोग ग्रहण करते हो, मैं भी उसी प्रकार करूंगा।" और सच-मुच लगातार कुछ दिन उन्होंने उसी प्रकार भोजन किया। किन्तु बहुत दिनों से वे यहां के आहार से अनभ्यस्त हो गये थे। वह उनको कैसे सहन होता? इसलिए कुछ दिनों बाद ही वे पेट की व्याधि से पीड़ित हो गए और बाध्य होकर उनको उससे विरत होना पड़ा।

अभेदानन्द जी के मठ पहुंचने के दूसरे दिन ही उद्-बोधन से शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्दजी) उनसे मिलने आये। दोनों गुरुभाइयों का बहुत वर्षों के बाद यह मिलन देखने लायक था। देखते ही पूजनीय शरत् महाराज ने "अच्छा, ओ साहेब" कहकर उनको प्रगाढ़ आलिंगन में बांध लिया। अभेदानन्द जी भी कुछ क्षणों तक उनको आलिंगनबद्ध कर उनके शरीर की ओर देख कहने लगे, "तुम्हारा शरीर अन्त में ऐसा हो गया, शरत्!" और मना करने पर भी उन्होंने शरत् महाराज की पदधूलि ले ली। बाद में देश-विदेश की कई प्रकार की बातें करते करते उन दोनों गुरुभाइयों ने पूरी दोपहर काट दी। ऐसा प्रतीत होता था, मानो दो हम-उम्र बालक बहुत दिनों बाद मिले हैं।

इसके कुछ दिनों बाद मठ का परिचित रासबिहारी

नाम का एक युवक उनसे मिलने आया और अपना परिचय देते हुए बोला, "महाराज , मैं एम. एस.-सी. पढ़ता हूं, अभी कलकत्ता के आक्सफोर्ड मिशन में हूं । वहां के पादरी लोग आपकी रंगून में यीशू ख्रीस्ट पर दी गयी वक्तृता की आलोचना करते हैं और आपसे प्रत्यक्ष मिलकर आपका इस सम्बन्ध में क्या वास्तविक विचार है यह सुनना चाहते हैं ।" सुनते ही महाराज कहने लगे, "ठीक तो है, इस विषय पर हमारी परस्पर चर्चा होगी ।" कुछ दिनों बाद इस मिशन के अध्यक्ष साहब को लेकर रासबिहारी उपस्थित हुआ ।

पूजनीय महाराज उस समय दोपहर का भोजन करके बरामदे में बैठे थे । साहब को देखकर उनके लिए एक कुर्सी लाने को कहा और उनके उस पर बैठने के उपरान्त उस वक्तृता के विषय पर चर्चा प्रारंभ हुई । जहां तक स्मरण आता है चर्चा पहले सद्भाव से ही शुरू हुई थी । किन्तु बाद में उसने थोड़ा कटु रूप ले लिया । साहब बार बार समझाने की चेष्टा करने लगा कि उन्होंने जो वक्तृता दी है, उससे उनके धर्म अर्थात् ईसाइयत को चोट पहुंची है । उत्तर में महाराज कहने लगे, "मैंने तो ईसाइयत पर चोट नहीं पहुंचायी है, हां, तुम लोगों की ईसाइयत पर अर्थात् जिस प्रकार तुम लोग बाइबिल की व्याख्या करते हो, उस पर अवश्य आघात किया है । तुम लोग बाइबिल की ठीक ठीक व्याख्या क्यों नहीं करते ? करने से सबका भला होता ।" साहब इससे अत्यंत क्रोधित हो गया और कहने लगा कि हिन्दू लोग भी तो वेदादि की गलत व्याख्या करते हैं । उसने जाते समय कहा कि वह इस विषय पर चर्चा करने के लिए अपने एक संस्कृतज्ञ मित्र को एक दिन लेकर आएगा । महाराज इस पर सम्मत हुए । निर्दिष्ट दिन साहब अपने मित्र को लेकर

आया और उसका परिचय देते हुए कहने लगा, 'ये हममें से ही एक पादरी हैं, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी से संस्कृत में एम. ए. पास किया है। उन्होंने परीक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त किया था। वेदादि में ये विशेष पारंगत हैं– सिर्फ पारंगत ही नहीं, उसके अधिकारी विद्वान हैं।"– अर्थात् वे जिस रूप में वेद की व्याख्या करते हैं, उसी को सब लोग सत्य मानकर स्वीकार करते हैं। 'He is an authority in Vedas' (ये वेदों के अधिकारी विद्वान हैं) – यह सुनते ही महाराज गर्जना कर कह उठे, 'Authority, Authority in the Vedas?' (अधिकारी, वेदों के अधिकारी?) कौन यह?" साहब ने पुनः अपने मित्र को दिखाकर अपनी बात को दुहराया। इस बार और अधिक जोर से महाराज बोल उठे, " No he can not be the authority " (नहीं, ये वेद के अधिकारी नहीं हो सकते) अर्थात् इनकी व्याख्या को मैं कभी भी वेद की प्रामाणिक व्याख्या के रूप में स्वीकार नहीं कर सकता। साहब इससे गरम होकर कहने लगा, "Then, who is the authority?" (तब कौन अधिकारी है ?) महाराज स्वयं की छाती ठोक कर कहने लगे, " We are the authorities. " (हम लोग अधिकारी हैं), तुम लोग नहीं (अर्थात् वेदों का मर्म जानना हो तो हम लोगों के पास आना होगा)। दो एक किताबें पढ लेने से उसका मर्म जाना नहीं जा सकता।"

कहना न होगा, दोनों साहब कुपित हो उसी क्षण उठकर चले गये। बाद में महाराज हम लोगों की ओर देख कर कहने लगे, "तुम लोग इन सब साहब लोगों को देखकर डरते हो। वे लोग जानते ही कितना हैं ? उस देश में उन लोगों के श्रेष्ठ दार्शनिक जेम्स, रायस आदि अनेकों के साथ कितनी

सभाओं में हमारी चर्चा हुई है, तर्क हुआ है। हम लोगों के दार्शनिक तत्वों को सुनकर कई बार उन्हें वह स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ा है।" इसी प्रकार की एक भोज-सभा का उल्लेख करते हुए बतलाने लगे, "खाने के लिए गया था, देखा वहां प्रमुख दार्शनिक जेम्स (विलियम जेम्स) उपस्थित हैं। थोड़ी बातचीत के बाद जेम्स अपनी Plurality of Universe (विश्व का बहुत्व) विषयक गवेषणा पर लंबी वक्तता देने लगे। तब समझ में आया कि उसे सुनवाने के लिये ही मुझे उस भोज-सभा में आमंत्रित किया गया था। वह शेष होने पर जिन्होंने मुझे उस सभा में आमंत्रित किया था, वे मुझसे बोले, "स्वामीजी, इस विषय में आपको कुछ कहना है?" मैं तो हमेशा से ही अद्वैतवादी था, अतएव उनकी व्याख्या क्यों मानता? मैंने उठकर एक एक करके उनकी गवेषणा के सब Points (विषयों) का खंडन कर दिया और यह प्रमाणित कर दिया कि एक अद्वितीय वस्तु से जगत् की समस्त वस्तुएं आविर्भूत हुई हैं और वह अद्वय वस्तु ही सबके ऊपर विराजमान है। जेम्स ने मेरी चर्चा के सभी मुद्दे स्वीकार किये या नहीं यह तो नहीं जानता, पर ऐसा लगा कि मेरी बात सुनकर वे बहुत संतुष्ट हुए।"

धीरे धीरे अनेक साहित्यिक, वैज्ञानिक एवं शिक्षा शास्त्री मठ में पूजनीय महाराज से मिलने आने लगे और इस देश तथा उस देश के साहित्य, विज्ञान एवं शिक्षा पद्धति सम्बन्धी विषयों पर उनके साथ तुलनात्मक विचार विमर्श कर तृप्त होने लगे। शीघ्र ही कलकत्ता में उनके पाश्चात्य प्रचार की सफलता के उपलक्ष्य में एक महती सभा का आयोजन कर उनको अभिनंदित करने की व्यवस्था हुई। तब तो

उनको सभी जानते थे, किंतु तब भी उनकी बालक जैसी सरलता ऐसी थी कि हम लोग मुग्ध हो गये थे। इस प्रसंग में यहां थोड़ा उल्लेख करने का लोभ मैं संवरण नहीं कर पा रहा हूं ।

मठ के निकट ही कलकत्ता से दो लोगों की एक प्रसिद्ध रास-बाड़ी (वैष्णवों का मंदिर) है। वहां प्रतिवर्ष रास-लीला के समय मेला भरता है। देवी-देवताओं की मूर्तियों के साथ सर्वसाधारण के मनोरंजन के लिए कई तरह की मूर्तियां भी सजा दी जाती हैं, नाना प्रकार के खिलौने और देशी मिठाइयों की भी वहां दुकानें रहती हैं। कई दिनों तक यह मेला चलता रहता है। उन्हीं दिनों एक दिन महाराज बोले, "चलो, रासबाड़ी में मेला हो रहा है, हम लोग एक दिन देख आएं, बहुत सालों से नहीं देखा है (१९०६ के बाद वे अब वापस आये थे)।" उनसे यह कहने पर भी कि वहां नाना प्रकार के लोग आते हैं, बहुत भीड़ रहती है, वे अपने इरादों से नहीं हटे। एक दिन वे शाम को हम लोगों को लेकर वहां गये और साधारण दर्शकों की भांति सब मूर्ति एवं खिलौने घूम घूम कर देखने लगे। बाद में कहने लगे, "देखो, ठाकुर कहते थे, इन सब स्थानों में आकर कुछ खरीदना चाहिए, नहीं तो ये लोग गरीब आदमी हैं, बड़ी आशा लेकर अपना सामान बेचने यहां आये हैं, वे बेचारे खाली हाथ लौट जाएंगे। देखो तो क्या है ?" हम लोग छुरी और उसी प्रकार का कुछ खरीद लाये। पर वे संतुष्ट नहीं हुए, बोले, "खाने का क्या है देखो।" खाने की वस्तुएं बासी हैं, अच्छी नहीं है यह सब कहकर उनको पहले तो टाला गया, किंतु कुछ बाद ही मूंगफली बिकते देख बोले, "वह क्यों नहीं खरीद लेते ?" हम लोग उनके आदेश से तीन पैकेट खरीद लाये। वे दो पैकेट हमें देकर

और एक पैकेट खुद लेकर वहीं मेले के स्थान में ही खडे खड़े खाने लगे। वे पच्चीस वर्ष तक अमेरिका में वेदान्तादि का प्रचार कर भारत लौटे हैं, वे एक वरिष्ठतम साधु हैं। (उस समय उनकी उम्र ५५ के करीब रही होगी), उनको देश विदेश में बहुत से लोग पहचानते हैं– ये सब बातें उस समय वे मानो एकदम भूल गये। मन में लगा कि ठाकुर की बातें स्मरण करते करते वे मानो फिर बालक बन गये हैं और उनकी अन्य सब सत्ता लुप्त हो गयी है।

इन्हीं दिनों एक समय उन्होंने हम लोगों को बतलाया था, "देखो, उस देश में बहुत से लोग पूछते थे कि मेरी उम्र कितनी है ? मैं कहता यही तीस-बत्तीस होगी। तब वे लोग अवाक् होकर मेरी ओर ताकने लगते थे। बाद में मैं उनको समझाते हुए बतलाता कि मेरी उम्र का अर्थ उस दिन से नहीं है, जिस दिन मैं माता के गर्भ से निकला था, बल्कि उस दिन से है, जब पहली बार श्री रामकृष्ण देव के साथ मेरी भेंट हुई थी और उन्होंने मुझे अपना आदमी कहकर स्वीकार किया था, अर्थात् १८८३-८४ सन् से ही मेरी उम्र गिननी होगी।"

अन्य एक दिन बातचीत के दौरान वे कहने लगे; "फिर कोई कोई उस देश में मुझसे पूछते कि क्या मैंने भगवान् के दर्शन किये हैं ? मैं उत्तर देता–'निश्चय ही'।" हम लोगों ने उनकी यह बात सुनकर कुछ सन्देह के स्वर में उनसे पूछा था, "सच ही क्या आपने भगवान् के दर्शन किये हैं, महाराज ?" सुनते ही दृढ़ स्वर में वे बोले, "निश्चय ही ! जब श्री ठाकुर के दर्शन किए हैं, तब भगवान् के दर्शन के लिए और क्या बाकी है, बताओ।"

श्री ठाकुर पर उनका अगाध विश्वास और भक्ति देख हम लोग सचमुच ही विस्मित और मुग्ध होते और सोचते कि कब हम भी ठाकुर को इस प्रकार अपना समझ पाएंगे।

बेलुड़ मठ में कुछ दिन रहने के बाद अभेदानन्द महाराज का स्वास्थ्य कुछ खराब हो गया। तो, स्वास्थ्य सुधारने के लिए हो अथवा कलकत्ता निवासियों और पुराने भक्तों के साथ घनिष्ठ रूप से मिलने के लिए हो, वे कुछ दिन बाद कलकत्ता आ गये और सुप्रसिद्ध भक्त बलराम बाबू के घर पर ठहरे। साथ में सेवक के रूप में हम लोग भी आये। इस समय उनका जो निश्छल व्यवहार आदि सब देखा था, वही यहां पर लिपिबद्ध कर रहा हूं।

यहां पर कुछ दिन रहने के पश्चात् वे अचानक पेट की बीमारी से पीड़ित हो गये। पूज्यपाद धीरानन्द स्वामी (कृष्णलाल महाराज) उस समय बलराम बाबू के घर उन लोगों के एक प्रकार से अभिभावक के रूप में रहते थे। महाराज की अस्वस्थता की बात सुन उन्होंने कहा कि पास में ही डा. विपिन बाबू (घोष) रहते हैं, यदि अनुमति दें तो उन्हें खबर देकर बुलवा लें। विपिन बाबू महाराज लोगों के साथ पहले से ही घनिष्ठ रूप से परिचित थे। वे पूज्यपाद बाबूराम महाराज के पूर्वाश्रम के संबंधी थे और उनके साथ श्री ठाकुर के पास कई बार गये थे। उनका नाम सुनते ही महाराज ने उनको बुला लाने के लिये उनके कम्बली टोला वाले मकान पर मुझको भेजा। पूज्यपाद अभेदानन्द जी की अस्वस्थता का समाचार पा वे अपना कार्य शीघ्र निपटाकर वहां आ गये। यहां हमने एक अदभुत बात देखी, जो कि श्री ठाकुर के शिष्यों के लिए ही संभव है। हम लोग तो चिंतित हो बैठे थे, पर डाक्टर के आते ही महा:

राज ने "आओ, आओ, डाक्टर" कहकर उन्हें कसकर आलिंगनबद्ध कर लिया और पन्द्रह-बीस मिनट तक सिर्फ ठाकुरजी की ही बातें करते रहे। फिर बाद में उस देश के अनेक अनुभवों को लेकर परस्पर चर्चा होने लगी। हम लोग चुप बैठे सुन रहे थे। प्रायः आधा घंटा बीतने पर डाक्टर ने उनको स्मरण दिलाने के उद्देश्य से जब पूछा, "अच्छा भाई, मुझको किसलिए बुलाया था ?" तब कहीं उन्हें देह की सुधि आयी और वे बोले, "हां, डाक्टर, कल रात से कई बार दस्त हो गया है, इसलिए तुमको बुलवाया है।" डाक्टर ने नुसखा लिखकर हम लोगों को दवा ले आने के लिए कहा। नुसखे को देखकर महाराज ने कहा, "डाक्टर, दवा पर तुम्हारा कैसा विश्वास है ?" डाक्टर ने भी तब उनको अपने मन की बात बतलायी, "भाई, यदि यह पूछो ही तो मैं कहूंगा कि सचमुच दवा के प्रति मेरा कोई विश्वास नहीं है; देखता हूं एक ही दवा विभिन्न लोगों पर अलग अलग प्रकार से काम करती है, कोई चंगा हो उठता है तो किसी पर कोई असर नहीं होता !" सुनकर बहु-विषयों के ज्ञाता महाराज बोले, "हां डाक्टर, उस देश के विशेषज्ञ डाक्टरों से भी मैंने ऐसा ही सुना है।"

याद पड़ता है यहीं रहते रहते एक दिन दानी बाबू (प्रसिद्ध नाट्यकार भक्तवीर गिरीश बाबू के पुत्र सुरेन घोष) ने उनको नाटयशाला में अपना अभिनय देखने के लिए आमंत्रित किया था। भक्तप्रवर गिरीश बाबू के साथ दानी बाबू को उन्होंने कई बार देखा था, इसलिए उनके अनुरोध पर वे राजी हो गये और हम लोगों को लेकर एक रात 'मिनर्वा' में (दानी बाबू तब वहीं रहते थे) अभिनय देखने गये। बहुत आदर-सत्कार के साथ एक बाक्स में

महाराज के साथ हम लोगों को भी बैठाया गया। अच्छी तरह याद है उस दिन गिरीश बाबू द्वारा रचित सामाजिक नाटक 'प्रफुल्ल' अभिनीत हुआ था। दानी बाबू ने उसके प्रमुख पात्र योगेश का अभिनय किया था। सरल उदार ज्येष्ठ भ्राता योगेश किस प्रकार अपनी उदारता और सरल स्वभाव के कारण क्रूर स्वभाव वाले अपने मंझले भाई द्वारा प्रताड़ित होता है और किस प्रकार अपना सब कुछ गंवाकर वह अपने गहरे दुःख को भूलने के लिए मद्यपान करने लगता है तथा अन्त में गली गली में भीख मांगता भटकता है, यही योगेश के अभिनय का विशेष अंश था। दानी बाबू ने अत्यंत कुशलता से इस पार्ट को निभाया था। अलग अलग समय में अलग भावपूर्ण मुद्रा में योगेश के रूप में उनका अभिनय देख हम लोग मुग्ध हो गये थे। किंतु महाराज को अभिनय के दोष-गुण सब स्पष्ट दिख रहे थे। कुछ घंटे रहने के बाद रात्रि अधिक होती देख महाराज वापस लौटने के लिए बेचैन होने लगे और उन्होंने दानी बाबू को बुला लाने के लिए किसी अभिनेता से कहा। दानी बाबू ने आकर महाराज को प्रणाम किया और जिज्ञासा की कि अभिनय कैसा लगा। उसके उत्तर में महाराज ने केवल इतना ही कहा, "तुम्हारे पिता का अभिनय तो हमने देखा है!" दानी बाबू उसका मर्म समझ गये और पुनः प्रणाम करते हुए उन्होंने कहा, "उनके साथ मेरी क्या तुलना! वे थे महान विद्वान और मैं हूं महामूर्ख। फिर भी आप लोगों का आशीर्वाद पाता रहता हूं, यही मेरे लिए परम सौभाग्य की बात है।" इसके बाद बातों ही बातों में दानी बाबू ने अपने गले से एक यज्ञोपवीत निकाला और कहा, "मेरे शंकराचार्य के अभिनय को देख श्री महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द जी)

ने मुझे यह उपहार दिया था और कहा था, 'तुम यज्ञोपवीत धारण करने के अधिकारी हो'।"

हम लोग बलराम-मंदिर लौट आये। अन्य एक दिन अपरेश बाबू (मुखोपाध्याय) के आग्रह पर महाराज के साथ हम लोगों ने 'स्टार' थियेटर में 'शाहजहान' अभिनय देखा था। विदेश में उन्होंने ऐसे बहुत से अभिनय देखे थे, फिर भी देश के इन सब अभिनेताओं और नाट्यकारों को उत्साहित करने के लिए ही मानो महाराज उन सबका अभिनय देखने जाते थे। बातचीत में अन्य एक दिन अप-रेश बाबू से उन्होंने कहा था, "आप लोग original (मौलिक) बनिए, ऐसा होने से उस देश (पश्चिम) में भी आप लोगों का सम्मान होगा। वे लोग originality (मौलिकता) चाहते हैं, इसीलिए ठाकुर पर इतनी श्रद्धा करते हैं। ठाकुर थे original— एकदम मौलिक, इसीलिए वे उन लोगों को इतने अच्छे लगते हैं।"

इसके कुछ दिन बाद जमशेदपुर से कुछ युवक भक्तों ने आकर उनसे भेंट की। उन लोगों ने वहां विवेकानन्द सोसायटी नाम से एक छोटी सी संस्था गठित की थी। दरिद्रों और पीड़ितों की सेवा ही उनका उद्देश्य था। महाराज के जाने से उनकी संस्था को नयी चेतना मिलेगी। पूज्यपाद महाराज ने उनकी बातचीत और उद्देश्य को सुनकर वहां जाने की सहर्ष स्वीकृति दे दी।

कुछ दिन बाद भक्त लोग आकर उनको जमशेदपुर ले गये। हम लोग भी सेवक के रूप में वहां गये। भक्तों ने राजोचित सम्मान से उनकी अभ्यर्थना की। एक आम सभा में उनको अभिनंदन-पत्र दिया गया। उसमें उन लोगों ने बतलाया था, "जमशेदपुर एक Cosmopolitan Town (सर्व-

देशीय नगर) है। केवल भारत के विभिन्न प्रातों से ही नहीं, वरन् पृथ्वी के विभिन्न देशों से विशेषज्ञ यांत्रिक लोग आकर विभिन्न कार्यों में नियुक्त हैं। किंतु ये सब के सब जड़ के उपासक हैं। यहां इस constant din and bustle (सर्वदा चलने वाले शोरगुल) के भीतर हम लोगों को चिंतन करने का अवसर नहीं मिलता। आपके इस शुभ आगमन से भले ही वह थोड़े समय के लिए ही क्यों न हो, हम लोग आशा करते हैं कि हम लोगों का हृदय उन्नत होगा, हम कर्म को उपासना के रूप में देख सकेंगे तथा जो विभिन्न जातियां तथा संप्रदाय यहां कार्य कर रहे हैं, उन सब के भीतर भाई-चारे का बन्धन दृढ़ होगा।"

इसके उत्तर में महाराज ने एक संक्षिप्त सारगर्भित वक्तृता दी; उसमें उन्होंने कहा, "धर्म प्रत्यक्ष वस्तु है, वह बात की बात नहीं है। श्री ठाकुर को देखकर हम लोग इसका गूढ़ मर्म समझ पाये हैं। वे सदैव भगवद्भाव में डूबे रहते थे। उनके पास जाति, धर्म या वर्ण का कोई भेद न था। बौद्ध, जैन, मुसलमान, ईसाई सभी उनके समीप आते और अपने अपने धर्म की पूर्ण अभिव्यक्ति उनके भीतर देख मुग्ध हो जाते। व सभी धर्मों के मानो मूर्तिमान् विग्रह थे। वे भगवान् को सिर्फ अपने भीतर ही नहीं देखते थे, बल्कि सर्वभूतों में उनका दर्शन करते। जिनसे हम अत्यंत घृणा करते हैं, उनके भीतर भी वे भगवान् की पूर्ण सत्ता का अनुभव करते। शुचि-अशुचि, ब्राह्मण-चाण्डाल में वे कोई पार्थक्य नहीं देख पाते थे। पतित, लांछित जनों की शिवज्ञान से सेवा करने से स्वयं की चित्तशुद्धि होती है। शुद्ध चित्त में भगवान् स्वयं ही आविर्भूत होते हैं। सभी धर्म यह बात कहते हैं। आप लोग भी यदि श्रीरामकृष्ण मिशन का इस प्रकार का

एक केन्द्र यहां खोल शिवज्ञान से जीवसेवा कर सकें, तब आप लोगों का भी चित्त शुद्ध होगा और उसी के माध्यम से आप ईश्वर की समीपता का अनुभव करेंगे।"

इसी प्रकार की एक और वक्तृता उन्होंने वहां दी थी। बाद में ये वक्तृताएं 'Lectures of Swami Abhedananda at Jamshedpur' नामक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुई थीं।

उनकी वक्तृता के फलस्वरूप शीघ्र ही वहां राम-कृष्ण मिशन की एक शाखा स्थायी रूप से स्थापित हुई। उसके माध्यम से नाना प्रकार से सेवादि कार्य किये जा रहे हैं, जिससे जनसाधारण के हृदय में कर्मयोग का बीज वपित हो रहा है।

भक्तगणों के आग्रह से पूज्यपाद महाराज एक दिन हम लोगों को लेकर इस्पात कारखाना (Tata Iron and Steel Works) देखने गये और बारीकी के साथ उसके सारे विभाग देखे। इस प्रकार का कारखाना भारत में पहला था और समग्र एशिया में दूसरे स्थान पर था। किन्तु उस देश (पश्चिम) में इस प्रकार के अनेक कारखाने हैं। इसीलिए लौटकर जब हम लोगों ने उसकी काफी प्रशंसा की, तब वे कहने लगे, "सच ही यह जमशेद जी टाटा की अद्भुत कीर्ति है, किंतु उस देश में (न्यूयार्क में) मैंने जो सब कारखाने देखे हैं, उनमें इस प्रकार के आठ या और भी अधिक कारखाने एक साथ समा सकते हैं।"

अन्य एक दिन कारखाने के जनरल मैनेजर (तब एक अमरीकी सज्जन थे) के साथ उनकी भेंट हुई। साधु होने पर भी उनके विलक्षण तकनीकी ज्ञान को देख जनरल मैनेजर बड़े मुग्ध हुए थे।

जमशेदपुर से लौटने पर महाराज की सेवा का अधिक सुयोग मुझे नहीं मिला। परंतु जो कुछ दिन सेवा की थी और उनके जीवन से जो कुछ सीखा था, वही मैंने इस छोटे से लेख में लिपिबद्ध करने की चेष्टा की है। उनके आशीर्वाद से हम सबको चैतन्य प्राप्त हो यही प्रार्थना करता हूं।

•

श्रीरामकृष्ण-वन्दना

ब्रह्मचारी श्रीधरचैतन्य

(राग—भीमपलासी : ताल— दादरा)

(हे) रामकृष्ण हृदयनाथ,
हृदय बीच आओ।
(निज) तापहरण मधुर रूप
दास को दिखाओ ॥ध्रु०॥
(तव) तेजपुंज दिव्य कान्ति
हरत सकल मोह-भ्रांति।
(सब) शोक ताप भय अशान्ति
चित्त से हटाओ ॥१॥
(प्रभु) तुम दयालु दीनबन्धु,
दीनशरण दयासिन्धु।
(अब) कर प्रदान कृपाबिन्दु
दीन को तराओ ॥२॥
(मम) देवदेव रामकृष्ण,
तुम्हीं राम तुम्हीं कृष्ण।
(हे) पूर्णकाम विगततृष्ण,
भवतृषा मिटाओ ॥३॥

•

श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें :- सुबोध चन्द्र घोष

स्वामी प्रभानन्द

कलकत्ता में ८ नवम्बर १८६७ को जन्मे सुबोध चन्द्र घोष का लालन-पालन धार्मिक वातावरण में हुआ था। वह श्रीयुत् शंकर घोष के उस परिवार का था, जिसके संरक्षण में कलकत्ता के ठनठनिया की सिद्धेश्वरी देवी का प्रसिद्ध मन्दिर था। उसके माता-पिता नयनतारा और कृष्णदास का उसके धार्मिक जीवन के विकास में बहुत बड़ा योगदान था। वह नियमित रूप से देवी-देवताओं का ध्यान किया करता।

जैसा कि प्रायः होता, उसके माता-पिता ने उस पर विवाह के लिए जोर डाला, पर उसने दृढ़ता से अस्वीकार कर दिया। तब अन्त में उसके माता-पिता ने निश्चय किया कि जैसे ही वह अपनी स्कूल की अन्तिम परीक्षा पास कर लेगा, उसका विवाह कर देंगे। सरल-चित्त के सुबोध ने ईश्वर से आन्तरिक प्रार्थना की, जिससे वह परीक्षा में उत्तीर्ण ही न हो। ऐसा लगता है ईश्वर ने उसकी प्रार्थना सुन ली, क्योंकि परीक्षा में वह उत्तीर्ण नहीं हुआ। तथापि उसके जीवन ने इस मोड़ पर एक निश्चित दिशा ले ली।

सुबोध सत्रह वर्ष का था, जब सर्वप्रथम उसने बंगाली पुस्तक 'श्रीमत् रामकृष्ण परमहंसेर उक्ति' (श्रीरामकृष्ण परमहंस के उपदेश) पढ़ी, जिसे सुरेशचन्द्र दत्त ने संकलित किया था। यद्यपि श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में उसने अपने पिता से सुना था, पर इस पुस्तक को पढ़ने के बाद तो वह उनके शीघ्र दर्शन के लिए आकुल हो उठा। उसके पिता ने उसे किसी अवकाश के दिन सुविधा देखकर साथ ले जाने

का आश्वासन दिया, पर सुबोध इतने दिन नहीं रुक सका। उसने अपने पड़ोसी सहपाठी क्षीरोदचन्द्र मित्र को साथ चलने के लिए तैयार कर लिया।

तदनुसार सुबोध एवं क्षीरोद एक दिन खूब तड़के[1]

[1] 'श्री श्री स्वामी सुबोधानन्देर जीवनी ओ 'पत्रावली' (बंगला) के अनुसार वह १८८४ ईसवी की रथ-यात्रा का पावन पर्व था। वैसे 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' भा. ३, द्वितीय संस्करण, पृ. २६८ के अनुसार यह यात्रा ३१ अगस्त १८८५ के कुछ दिन पहले हुई थी। उस वर्ष रथ-यात्रा का पर्व मंगलवार, १४ जुलाई को पड़ा था तथा श्रीरामकृष्ण ने वह दिन कलकत्ते में बलराम बोस के घर बिताया था। सुबोध उस दिन वहां नहीं था। क्योंकि, जैसा कि हम देखेंगे, उसकी पहली ही यात्रा में श्रीरामकृष्ण ने उसे मंगल या शनि को आने के लिए कहा था। इससे ऐसा अन्दाज होता है कि पहली यात्रा इन दोनों में से किसी भी दिन नहीं हुई थी। अतः इतना लगभग निश्चित है कि पहली मुलाकात रथ-यात्रा के दिन नहीं हुई थी और निश्चित ही १८८४ में भी नहीं, क्योंकि 'श्रीमत् रामकृष्ण परमहंसेर उक्ति' (भा. १) सर्वप्रथम २३ दिसम्बर १८८४ को छपी थी। 'म' (महेन्द्र-नाथ गुप्त, 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' के लेखक) उस समय उपस्थित नहीं थे, जब सुबोध ने श्री रामकृष्ण से पहली बार भेंट की थी। 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' में सुबोध का नाम सर्वप्रथम ३१ अगस्त १८८५ को आया है "दो लड़के आये हुए थे। एक तो शंकर घोष के नाती का लड़का था सुबोध और दूसरा उसी के टोले का एक लड़का क्षीरोद।" 'म' की इसके पहले की दक्षिणेश्वर-यात्रा गुरुवार एवं शुक्रवार २७ तथा २८ अगस्त १८८५ को हुई थी। इसलिए इन तथ्यों

दक्षिणेश्वर के लिए निकल पड़े। चूंकि रास्ते से दोनों अनभिज्ञ थे, इसलिए सीधे उत्तर दिशा में चलते रहे। आड़ियादह पहुंचने पर उन्हें पता लगा कि दक्षिणेश्वर पीछे छूट गया है। वे वापस लौटे। सुबोध कुछ चिंतित हो गया। अपने माता-पिता के कुपित होने के भय से वह कहने लगा, "क्षीरोद, चलो घर लौट चलें। अब तो दोपहर हो गयी है। शाम के पहले अपने को घर लौट जाना है।" पर क्षीरोद ने दक्षिणेश्वर चलने पर जोर दिया। वे खेतों की मेड़ पर से होकर चलने लगे, जिससे रास्ता जल्दी तय हो जाय। सुबोध सन्त से मिलने के विचार से संकुचित हो रहा था। उसने क्षीरोद से अनुरोध किया कि सन्त से वही बातचीत करे और वह स्वयं चुप रहेगा। क्षीरोद राजी हो गया।

अन्त में वे दक्षिणेश्वर पहुंचे। बहुत सम्भव वह अपराह्न का समय था। श्रीरामकृष्ण अपने कमरे में थे। वे मध्याह्न भोजन के उपरान्त कुछ विश्राम के पश्चात् छोटे तखत पर बैठे थे। यह नहीं मालूम कि सुबोध और उसके मित्र ने दोपहर का भोजन किया था या नहीं। यदि नहीं किया रहा हो, तो यह निश्चित रूप से मान सकते हैं कि श्रीराम-

---

के आधार पर मान सकते हैं कि सुबोध की यात्रा ३० अगस्त, १८८५ को हुई होगी।

इन धारणाओं के विपरीत, 'श्री-श्री-रामकृष्ण-चरित' (बंगला) (कालीनाथ सिन्हा, १३, निकासी पारा लेन द्वारा प्रकाशित, प्रथम सं., पृ. ३३२) में गुरुदास वर्मन कहते हैं कि किसी सप्ताह के बीच के दिन, स्कूल की जल्दी छुट्टी हो जाने पर, सुबोध एवं क्षीरोद दक्षिणेश्वर के लिए निकल पड़े थे। बहुत सम्भव है यह किसी अन्य दिन की यात्रा से सम्बन्धित हो, पहली यात्रा से नहीं।

कृष्ण ने उन्हें भोजन करवाया होगा। क्षीरोद ने पहले कमरे में प्रवेश किया था। उसने श्रीरामकृष्ण को प्रणाम किया, जबकि सुबोध दूर एक कोने में खड़ा रहा।[2] श्रीरामकृष्ण-ने बड़े प्रेम से उनका स्वागत किया और पूछा, "तुम लोग कहां से आ रहे हो ?"

"कलकत्ता से," क्षीरोद ने उत्तर दिया।

"ये दूसरे बाबू क्यों इतनी दूर खड़े हैं ?" श्रीरामकृष्ण ने मुसकराते हुए पूछा, "बाबू, तुम क्यों उतनी दूर खड़े हो ? आओ, पास आओ।"

सुबोध कुछ कदम आगे बढ़ा। उसके चेहरे को देख श्रीरामकृष्ण ने कहा, "तुम क्या शंकर घोष के परिवार के हो ? "

इस पर विस्मित हो सुबोध ने कहा, "हां, पर आपको कैसे मालूम हुआ, महाशय ?"[3]

"जब मैं झामापुकुर में रहता था, तब सिद्धेश्वरी के मन्दिर में और तुम्हारे घर कई बार गया था। तब तुम्हारा जन्म नहीं हुआ था। मैं जानता था तुम यहां आओगे। मां उन लोगों को यहां भेज देती है, जिनके जीवन में आध्यात्मिकता की उज्ज्वल सम्भावनाएं होती हैं। तुम इतनी दूर क्यों खड़े हो ? आओ, मेरे पास आओ।"

सुबोध और नजदीक आया। श्रीरामकृष्ण ने उसे अपनी शय्या पर बैठने के लिए कहा। सुबोध ने प्रतिरोध किया कि रास्ते में कई लोगों का उसने उन वस्त्रों में स्पर्श किया है और फिर वे वस्त्र स्वच्छ भी नहीं हैं, इसलिए सन्त

2 गुरुदास बर्मन के अनुसार उन लोगों ने उस समय की प्रथा के अनुसार हाथ जोड़कर नमस्कार किया था।

3 बर्मन, वही, पृ. २३३।

के बिस्तर पर उसे नहीं बैठना चाहिए। श्रीरामकृष्ण ने उसकी कमर में हाथ डालकर स्नेह-भरे स्वर में कहा, "देखो, तुम यहां के अपने जन हो। भला किसी के पहने कपड़ों में क्या रखा है ?"[4] अपने हाथ में सुबोध की कलाई थामे श्रीरामकृष्ण आंखें बन्द किये कुछ देर बैठे रहे और फिर उनका बाह्य ज्ञान लुप्त हो गया। थोड़ी देर बाद बाह्य चेतना लौटने पर वे अपने में हंसने लगे। बाद में उन्होंने कहा, "देख, तू सफल होगा, मां (जगन्माता) ने ऐसा कहा है।"[5]

अब तक सुबोध ने पूछने के लिए पर्याप्त साहस जुटा लिया था, "यदि सच ही मैं यहां का हूं, तो मां क्यों नहीं इससे पहले मुझे यहां ले आयी ?"

---

[4] स्वामी सुबोधानन्द ने अपने दिनांक २३-६-२५ के एक पत्र में अपनी इस यात्रा का अनुभव लिखा था। उसमें उन्होंने बताया था, "ठाकुर ने कहा, 'तुम यहीं के हो,' अर्थात् मैं एकमात्र उन्हीं का हूं...। यद्यपि मैं ठाकुर को देखने एक दूसरे मित्र के साथ गया था, पर अब मैं अच्छी तरह जान गया हूं कि अन्य लोग तो मात्र सहायक हैं। ठाकुर अपने लोगों को, अपनी वस्तुओं को स्वयं ही खींच लेते हैं।"

[5] सुबोध की दूसरी यात्रा में श्रीरामकृष्ण ने उसकी जीभ पर कुछ लिख दिया था और उसकी नाभि से गले तक थपथपाते हुए कहा था, 'जागो मां, जागो!' उन्होंने सुबोध से ध्यान करने के लिए कहा और सुबोध की सुप्त आध्यात्मिकता एकदम जाग उठी। उसका हृदय आनन्द से भर उठा। शरीर पुलकित हो उठा। उसने अपनी सुषुम्ना नाड़ी में मस्तिष्क तक एक शक्ति उठती हुई अनुभव की। ('The Disciples of Sri Ramakrishna' अद्वैत आश्रम, मायावती, सन् १९४३, पृ. २७८)

श्रीरामकृष्ण ने मुसकराते हुए कहा, "देख, बिना समय आये कुछ नहीं होता।"

सुबोध की श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में पहली धारणा उसी प्रकार की थी, जैसी अन्य लोगों की, जो उनके सम्पर्क में आये थे--और वह यह कि सन्त की सरलता और आध्यात्मिकता आश्चर्यजनक रूप से मोहक है। श्रीरामकृष्ण सुबोध के अनजाने में उसके अन्तर्तम प्रदेश में प्रविष्ट हो एक गहरी दृढ़ आस्था का संचार कर रहे थे।

कुछ समय पश्चात् सुबोध थोड़ी दूर हटकर श्रीरामकृष्ण के सामने फर्श पर बैठ गया। श्रीरामकृष्ण के कहने पर उनके भतीजे रामलाल ने सुबोध को एक आसनी बैठने के लिए दी। सुबोध उस पर आराम से बैठ गया, जबकि उसका मित्र क्षीरोद पास में चटाई पर बैठा था।

श्रीरामकृष्ण ने पूछा, "इतनी दूर तुम लोग किस प्रकार आये ?"

"क्यों, पैदल ही," सुबोध का चट उत्तर था।

"क्या मतलब ? इतनी दूर तुम लोग पैदल ही आये ? पर तुम्हें इस स्थान के बारे में कैसे पता चला ?"

"मैंने आपके उपदेश पढ़े थे। मैं मुग्ध हो गया था। आप प्रसिद्ध सन्त हैं। इसीलिए हम लोग आपके दर्शन के लिए आये हैं।"

इन शब्दों को सुनते ही श्रीरामकृष्ण में भावान्तर हो आया। वे भावमग्न हो गए। उन्होंने कहा, "मैं तो दीन हूं, तुच्छ कीट से भी दीन, मेरा क्या नाम और प्रसिद्धि ? मैं तो अत्यन्त तुच्छ हूं।" सन्त की विनम्रता और उनके इन शब्दों ने सुबोध के मन पर गहरा प्रभाव डाला। कुछ समय चुप रहने के बाद श्रीरामकृष्ण ने फिर कहा, "जिन्हें मां यहां

भेजती है, वे लोग जरूर आध्यात्मिकता प्राप्त करेंगे। तुम यहां शनिवार और मंगलवार को आया करो। इन दिनों आने से अच्छा रहेगा। तुम्हारे इलाके के बहुत से लोग उस दिन आते हैं, तुम भी आना।"[6]

सुबोध को लगा कि आमंत्रण स्वीकार कर लिया जाय; पर माता-पिता की नाराजगी का भय था। उसने कहा, "यदि मैं शनि और मंगल को आऊंगा, तो मेरे माता-पिता जान जायेंगे। आप जो कुछ बतलाना चाहते हैं अभी बतला दीजिए। शनिवार को आना सम्भव नहीं है, क्योंकि उस दिन मेरे पिता आफिस से जल्दी लौट आते हैं।"

श्रीरामकृष्ण ने जोर दिया; "नहीं, चूंकि ये शब्द मेरे मुंह से निकल चुके हैं, इसलिए उन्हें वापस नहीं ले सकता। जब मैं कहता हूं कि अमुक जगह मुझे जाना है, तब बरसात हो या आंधी, मुझे जाना ही पड़ता है। यदि मैं न भी चाहूं, तो मां मुझे वहां ले जाती है। बचने का कोई उपाय नहीं है। इसलिए शनि और मंगल को यहां आना।"[7]

श्रीरामकृष्ण का स्वास्थ्य अच्छा नहीं था। प्रायः चार महीने से गले के दर्द से वे पीड़ित थे, कैंसर का वह पूर्व लक्षण था। उन्होंने उन दोनों युवकों को महेन्द्र नाथ गुप्त से मिलने के लिए कहा, क्योंकि वे उन्हीं लोगों के मुहल्ले में रहते थे।[8]

---

[6] बर्मन, वही, पृ. ३३५।

[7] वही।

[8] 'श्रीरामकृष्णवचनामृत,' भा. ३, पृ. २६८: श्रीरामकृष्ण 'म' से, "उनसे मैंने कहा, 'मेरी तबीयत इस समय अच्छी नहीं।' फिर मैंने तुम्हारे पास जाकर उपदेश लेने के लिए कहा। उन्हें जरा देखना।" मास्टर--"जी हां, मेरे ही मुहल्ले में वे रहते हैं।"

चूंकि अब दिन ढल रहा था, इसलिए दोनों ने श्रीरामकृष्ण से बिदा मांगी। उन्होंने उन लोगों को कुछ भोजन लेने के लिए कहा, पर सुबोध ने पहले अस्वीकार कर दिया।

"जाने के पहले थोड़ी मिठाई खाकर पानी पी लो," श्रीरामकृष्ण ने कहा। उनके कहने पर लाटू ने कुछ प्रसाद उन्हें दिया। वे लोग प्रसाद खाकर कलकत्ता लौटने के लिए तत्पर हुए, तब श्रीरामकृष्ण बोले, "यहां से बहुत दूर है और तुम लोग भी छोटे हो। अच्छा हो, तुम लोग नाव या बग्घी से जाओ। मैं तुम लोगों को भाड़ा दे देता हूं।"

"मैं तैरना नहीं जानता। हम लोग नाव से नहीं जा सकते हैं", सुबोध ने उत्तर दिया।

"तब बग्घी किराये पर ले लो," श्रीरामकृष्ण ने जोर दिया।

"नहीं, हम लोग पैदल चले जायेंगे," सुबोध ने कहा।

स्नेह-भरे शब्दों में श्रीरामकृष्ण ने कहा, "देखो, तुम लोग अभी लड़के हो, बहुत कष्ट होगा। इतनी दूर पैदल चलना बड़ा कठिन है।"

सुबोध अपनी बात पर अडिग था। उसने बार बार कहा कि चूंकि वे लोग उत्साह से भरे हुए हैं, इसलिए उन लोगों का पैदल वापस जाना कठिन नहीं होगा। चूंकि वह स्पष्ट-वादी भी था, इसलिए उसने एक तर्क यह भी दिया, "आप कहां से पैसे लाएंगे?"

श्रीरामकृष्ण ने मुसकराते हुए कहा, "तुम पैसे की चिन्ता मत करो। कई ऐसे लोग हैं, जो मुझे पैसा देते हैं। मैं रामलाल से कहता हूं तुम्हें कुछ देने के लिए, गाड़ी किराये से कर लेना।" फिर भी जब सुबोध राजी न हुआ, तब श्रीरामकृष्ण ने क्षीरोद को लेने के लिए कहा। सुबोध के अनुरोध पर

क्षीरोद ने भी लेना स्वीकार नहीं किया। उन्होंने परमहंस को प्रणाम किया, तब उन्होंने अपनी मधुर आवाज में स्मरण दिलाते हुए कहा, "यहां आना, मंगल और शनि को आना।"[9]

यद्यपि उपलब्ध तथ्यों में कहीं ऐसा नहीं मिलता, फिर भी ऐसा माना जा सकता है कि कलकत्ता लौटने से पहले उन लोगों ने मन्दिरों के भी शीघ्रता से दर्शन किये होंगे।

अपने भय के बावजूद सुबोध अगले शनिवार को अपने मित्र के साथ स्कूल से दक्षिणेश्वर भाग आया था। दक्षिणेश्वर की यात्रा पर यात्रा बढ़ती गयी और सुबोध आध्यात्मिकता के नये राज्य में क्रमशः अनजाने ही प्रविष्ट होने लगा। वह समझ नहीं सका कि क्या हो रहा है। उसके बहुत से संस्कार, जिनकी जड़ें बहुत गहरी थीं, धीरे धीरे मिटने लगे। उसके लिए वह एक नये जीवन का शुभारम्भ था। सुबोध ने श्रीरामकृष्ण की स्नेह-भरी देखरेख में अपने को समर्पित कर दिया। उन्होंने भी स्नेहमयी माता के समान अपने उस सुबोध के भीतर आध्यात्मिकता को अंकुरित होते देखा, जिसे स्वामी विवेकानन्द और अन्य लोग स्नेह से 'खोका' (मुन्ना) कहा करते थे।

बाद में उसने संसार का त्याग कर दिया और श्रीराम-कृष्ण संघ में प्रविष्ट हो स्वामी सुबोधानन्द के नाम से परि-चित हुआ।

●

[9] बर्मन, वही, पृ. ३३६।

सदा सो सानुकूल रह मो पर

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(पंडित उपाध्यायजी ने दिल्ली के बिड़ला लक्ष्मी-नारायण मंदिर में 'लक्ष्मण चरित्र' पर ४ से ११ अप्रेल, १९७३ तक आठ प्रवचन प्रदान किए थे। प्रस्तुत लेख इस क्रम का सातवां प्रवचन है।)

टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री नन्दकिशोर स्वर्णकार ने किया है, जो दिल्ली की सालिड स्टेट फिजिक्स लेबोरेटरी में कार्यरत हैं। उनकी इस बहुमूल्य सेवा के लिए हम उनके अत्यंत आभारी हैं। –सं.)

पिछले छह प्रवचनों में हमने लक्ष्मण जी के चरित्र की भूमिका पर विचार करते हुए देखा कि वे किस प्रकार श्री राम के चरित्र की पूर्णता साधित करते हैं। वे प्रभु के यश के विस्तार के लिए अपने ऊपर कलंक लेते हैं, दूसरों की लांछना स्वीकार करते हैं।

एक महिला ने मुझसे कहा कि रामायण में उर्मिलाजी के चरित्र की उपेक्षा की गयी है। उन्होंने स्वयं उर्मिलाजी के चरित्र पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया है। पर मैं समझता हूं उर्मिलाजी सहानुभूति की नहीं, श्रद्धा की विषय हैं। यदि कोई स्थिति किसी पर बलात् आरोपित कर दी जाय, तब तो वह सहानुभूति का पात्र हो सकता है, पर यदि किसी ने स्वेच्छा से किसी विशेष जीवन का वरण किया हो, ऐसे मार्ग पर चल रहा हो जो बलिदान का पथ है, तो वह सहानुभूति का नहीं, श्रद्धा का पात्र है। अतः जब हम लक्ष्मण, उर्मिला, सुमित्रा या पूरे परिवार पर विचार

करते हैं तब उन साधारण मापदंडों को हमें नहीं अपनाना चाहिए, जिनको हम समाज के सामान्य जीवन पर विचार करने के लिए अपनाते हैं। मान लीजिए एक सैनिक युद्धक्षेत्र में लड़ने गया। तो, क्या यह नहीं कहा जा सकता कि वह अपनी पत्नी के प्रति कर्तव्य का कहां पालन कर रहा है ? तात्पर्य यह है कि बलिदान का पथ ऐसा नहीं, जहां व्यक्ति केवल व्यक्तिगत सम्बन्धों को ही महत्व देकर रुक जाय ।

एक भवन-निर्माता शिल्पी से किसी ने शिकायत की-- तुम्हें तो प्रत्येक ईंट के साथ न्याय करना चाहिए। तुमने जिस बेचारी ईंट को जमीन में गाड़ दिया, उसके साथ कितना अन्याय किया ? ऊपर की जो ईंटें हैं, वे तो सज्जा प्राप्त कर रही हैं और नीचे की ईंट दिखायी ही नहीं देती। उसका त्याग, उसका बलिदान कितना महान् है ! अपने ऊपर सारा भार लादकर भी वह आंखों से ओझल रहती है। तो, ऐसी शिकायत का वह शिल्पी क्या उत्तर देगा ? जो नींव की ईंट है, वह तो नीचे ही रहेगी। ऐसा कोई उपाय नहीं, जिससे नींव की ईंट ऊपर रहे और मकान खड़ा हो जाय। और सच में देखा जाय तो गौरव तो आप नींव की ईंट को ही देते हैं, जो नीचे गड़ी हुई है। उर्मिलाजी या लक्ष्मण जी का गौरव इस बात में है कि रामराज्य के रूप में जिस महान् आदर्श का निर्माण हो रहा है, उसके लिए वे अपने आपको मिटाकर नींव की ईंट बन जाते हैं। इसी-लिए गोस्वामीजी ने श्री लक्ष्मण के लिए बड़ा सार्थक शब्द चुना – 'सकल जगत आधार' (१/१९७)। आधार तो नीचे ही होता है। हमारी मान्यता भी है कि पृथ्वी का आधार है शेष। पृथ्वी तो हमें दिखायी देती है, पर शेष नहीं दिखायी

देता। जब हम लक्ष्मणजी को शेष का अवतार कहते हैं, तब फिर वे दिखेंगे कैसे ? क्या आधार भी कभी दिखायी देता है ? इस बात को न समझने के कारण ही कभी कभी लोग लक्ष्मण जी के प्रति न्याय नहीं कर पाते। यह बार बार दुहराया जाता है कि भरत जी का चरित्र महान् है। इसमें सन्देह नहीं कि श्री भरत महान् हैं, पर श्री लक्ष्मण भी उतने ही महान हैं। कुछ लोग लक्ष्मणजी को न समझने के कारण उनकी खुली आलोचना कर बैठते हैं कि उनमें शील का अभाव है, जल्दी से आवेश में आ जाते हैं, आदि। कुछ दूसरे लोग लक्ष्मण जी पर मानो दया करके उनके आवेश आदि की सफाई देने लगते हैं कि हां, उनमें आवेश-सा आया तो दिखता है, पर वह इस कारण से है; उनमें शील न तो दिखाई देता, पर वह इस कारण से है। पर हम कहे, लक्ष्मणजी कोई दया के पात्र नहीं हैं। वस्तुतः उन्हें इसलिए ठीक समझा नहीं गया कि उनके चरित्र का उतना विस्तार नहीं हो पाया। और उर्मिलाजी का चरित्र तो उनकी भी अपेक्षा बहुत कम सामने आया। इसका कारण मात्र यही है कि श्री लक्ष्मण भगवान राम के साथ सम्बद्ध हैं वे भगवान् की कीर्ति-पताका के दण्ड हैं। नमन तो ध्वज को किया जाता है, डण्डे को कोई प्रणाम नहीं करता। पर यदि दण्ड को कोई प्रणाम न करता हो, आधार को कोई देख न पाता हो, तो इसका तात्पर्य यह तो नहीं कि आधार किसी प्रकार से न्यून है।

एक अनोखी बात आती है। गुरु वसिष्ठ ने जब इन चारों भाइयों का नामकरण किया, तो क्रम थोड़ा बदल दिया। अवस्था के अनुसार पहले श्री राम का नामकरण होना चाहिए था, फिर श्री भरत का, फिर श्री लक्ष्मण और अन्त में शत्रुघ्नजी का। गुरु वसिष्ठ ने श्री भरत तक तो क्रम

का पालन किया पर उसके बाद लक्ष्मण जी के स्थान पर श्री शत्रुघ्न का नाम रख दिया और अन्त में श्री लक्ष्मण का नाम रखा। प्रश्न उठता है कि क्या वसिष्ठ जी इस अवस्था क्रम से अनभिज्ञ हैं ? नहीं, ऐसी बात नहीं। वे लक्ष्मण जी का नामकरण सबसे अन्त में करने का कारण बता देते हैं -

लच्छन धाम राम प्रिय सकल जगत आधार ।१/१९७

—लक्ष्मण तो सबके आधार हैं, और आधार का सबसे नीचे स्थापित होना ही सुसंगत है, भले ही अवस्था क्रम की दृष्टि से विचार करने पर यह असंगत लगे। इस प्रकार गुरु वसिष्ठ इस नामकरण में ही लक्ष्मण जी की भूमिका का संकेत कर देते हैं। फिर, इन चारों भाइयों के नामकरण में ही इस क्रम का पालन नहीं किया गया, अपितु जब जनकपुरी में चारों राजकुमारियों का स्मरण किया गया, तो वहां भी उर्मिला को श्रुतिकीर्ति के बाद सबसे अन्त में ही रखा गया, यद्यपि सबसे छोटी तो श्रुतिकीर्ति हैं। महाराज जनक तीनों कन्याओं को लाने का आदेश देते हैं -

मांडवी श्रुतकीरति उरमिला कुअंरि लईं हंकारि कै।
१/३२४/छं. २

तो, यहां अवधपुरी में नामकरण में लक्ष्मणजी सबसे अन्त में हैं और वहां जनकपुरी में राजकुमारियों के नाम स्मरण में उर्मिलाजी सबसे अन्त में। एक बात और। जब गोस्वामी जी उर्मिला का परिचय देते हैं तो परंपरा से थोड़ा हटकर वैसा करते हैं। किसी भी स्त्री के परिचय के तीन मुख्य केन्द्र होते हैं। या तो कहेंगे कि अमुक की पुत्री है; या विवाह के बाद कहेंगे कि अमुक की पत्नी है, या फिर सन्तान की उत्पत्ति के बाद कहेंगे कि अमुक की माता है। जब श्री सीताजी पार्वतीजी की वन्दना करती हैं, तब इन्हीं तीन संबंधों का

स्मरण करती हैं– 'जय जय गिरिबर राज किसोरी' (१/२३४/५) – आप गिरिराज हिमालय की पुत्री हैं, 'जय महेस मुख चन्द चकोरी' (१/२३४/५) –आप शंकरजी के मुखचन्द्र की चकोरी हैं अर्थात् आप शंकरजी की प्रिया हैं 'जय गजबदन षडानन माता' (१/२३४/६)– आप गणेश और स्वामी कार्तिकेय की माता हैं। पर जब गोस्वामीजी ने उर्मिलाजी का परिचय दिया, तो परम्परा से हट गये। विवाह के मण्डप में वे तीनों राजकुमारियों का परिचय कराते हैं। माण्डवी और श्रुतकीर्ति का परिचय देते हुए तो क्रम का पालन करते हैं, यह बताते हैं कि वे किनकी पुत्री हैं, पर उर्मिला का परिचय देते हुए पिता के नाम से उनका परिचय नहीं देते। माण्डवी के लिए कहते हैं।

कुसकेतु कन्या प्रथम जो गुन सील सुख सोभामई।
सब रीति प्रीति समेत करि सो ब्याहि नृप भरतहि दई।
१/३२४/छं. २

–जो कुशकेतु (कुशध्वज) की प्रथम कन्या है, वह भरतजी को ब्याही गयी। श्रुति कीर्ति के लिए कहते हैं कि कुशकेतु की इस छोटी कन्या का ब्याह शत्रुघ्नजी से किया गया –

जेहि नामु श्रुतकीरति सुलोचनि सुमुखि सब गुन आगारी।
सो दई रिपुसूदनहि भूपति रूप सील उजागरी॥
१/३२४/छं. ३

माण्डवी और श्रुतकीर्ति कुशकेतु की पुत्रियां हैं। कुशकेतु महाराज जनक के भाई हैं और कुशध्वज के नाम से भी परि-चित हैं। विवाह के प्रसंग में तो पिता का महत्व और भी अधिक हैं, क्योंकि वह कन्यादान करता है। तो, माण्डवी और श्रुतकीर्ति के परिचय में उनके पिता का स्मरण बिलकुल ठीक ही किया गया, पर उर्मिला के परिचय में गोस्वामीजी

कन्या के पिता का स्मरण नहीं करते। उर्मिला स्वयं महाराज जनक की पुत्री हैं, पर उनके परिचय में कहते हैं– 'जानकी लघु भगिनी' –ये जानकी जी की छोटी बहन हैं। (१/३२४/छं. ३)। यह अनोखी बात है। यदि सामने दो बहनें मात्र होतीं, तो छोटी बहन का परिचय कराते हुए कहा जा सकता था कि ये इनकी छोटी बहन हैं। पर जहां पर कन्यादान का अवसर हो और महाराज जनक जैसा प्रसिद्ध पिता हो, वहां पर यह कहकर परिचय देना कि ये जानकीजी की छोटी बहन हैं, बड़ा खटकता है। गोस्वामी जी ऐसी खटकने वाली बात क्यों करते हैं? क्या वे नहीं जानते कि यह बात परंपरा से हटकर है? वे जानते हैं पर वे केवल कविहृदय ही तो नहीं हैं, वे भक्तहृदय भी हैं। वे यह बताना चाहते हैं कि वर और दुलहिन दोनों सर्वथा एक दूसरे के अनुरूप हैं– 'अनुरूप बर दुलहिनि' (१/३२४/छं. ४)। वे माण्डवीजी के गुणों का वर्णन करते हुए कहते हैं–

कुसकेतु कन्या प्रथम जो गुन सील सुख सोभामयी।

–जो गुण, शील, सुख और शोभा की रूप ही हैं। ये भरतजी, के अनुरूप हैं, क्योंकि श्री भरत भी गुण और शील की मूर्ति हैं–

निरवधि गुन निरुपम पुरुषु भरतु भरत सम जानि।

२/२८८

उसी प्रकार यदि शत्रुघ्नजी 'वेदप्रकाशा' हैं– 'नाम सत्रुहन बेद प्रकासा' (१/१९६/८)

–तो उनकी दुलहिन भी श्रुतकीर्ति हैं। अब उर्मिलाजी लक्ष्मणजी की प्रिया कैसे बनेंगी? गोस्वामीजी कहते हैं कि उसके लिए और कोई गुण उर्मिला जी में नहीं चाहिए, बस उन्हें 'जानकी लघु भगिनी' भर होना है। जब तक राम-

सीता से नाता न हो, तब तक भले ही लाख गुण हों पर लक्ष्मणजी के लिए कोई आकर्षण नहीं हो सकता। इसीलिए गोस्वामीजी ने उर्मिलाजी के लिए दो ही विशेषण कहे– या तो वे 'जानकी लघु भगिनी' हैं या 'सकल सुन्दरि सिरोमनि'

जानकी लघु भगिनी सकल सुन्दरि सिरोमनि जानि कै।
सो तनय दीन्ही ब्याहि लखनहि सकल बिधि सनमानि कै॥
१/३२४/छं. ३

'शिरोमणि' कहकर यह ध्वनित किया कि शेष के लिए शिरोमणि ही सर्वश्रेष्ठ हो सकता है, क्योंकि सर्प के मस्तक में मणि होता है। इस प्रकार उर्मिला का शिरोमणित्व साहित्यिक दृष्टि से सार्थक है और उनका सीता की लघु-भगिनी होना सीता के प्रति उनकी निष्ठा को प्रकट करता है।

श्री भरत और श्री लक्ष्मण के लिए गोस्वामीजी दो अलग अलग उपमा देते हैं। भरत क्या हैं?–

भरतु हंस रबिबंस तड़ागा।
जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥
गहि गुन पय तजि अवगुन बारी।
निज जस जगत कीन्हि उजिआरी॥ २/२३१/६–७

–'भरत ने सूर्यवंश रूपी तालाब में हंसरूप जन्म लेकर गुण और दोष का विभाग कर दिया। गुण रूपी दूध को ग्रहण कर और अवगुणरूपी जल को त्यागकर भरत ने अपने यश से जगत् में उजियारा कर दिया है।' तो, यहां पर गोस्वामी जी श्री भरत की तुलना हंस से करते हैं। पर लक्ष्मणजी हंस नहीं हैं। 'विनयपत्रिका' में (३७) लक्ष्मणजी की वन्दना करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं– 'भावते भरत के'। वहां

पर सबके नातों का सुन्दर वर्णन करते हैं। यह ध्यान रखने योग्य बात है कि गोस्वामीजी ने 'रामचरितमानस' में सबसे अधिक वन्दना लक्ष्मणजी की की है। वैसे ही 'विनयपत्रिका' में भी उन्होंने लक्ष्मणजी की वन्दना में दो पद लिखे हैं, जबकि भरतजी की वन्दना में एक पद। तो, लक्ष्मणजी की स्तुति करते हुए वे 'विनयपत्रिका' में लिखते हैं–

लाल लाड़िले लखन, हित हौ जन के।
सुमिरे संकटहारी, सकल सुमंगलकारी
पालक कृपालु अपने पन के ॥१॥
धरनी-धरनहार भंजन-भुवनभार,
अवतार साहसी सहसफन के।
सत्यसंध, सत्यब्रत, परम धरमरत,
निरमल करम बचन अरु मन के ॥२॥
रूप के निधान, धनु-बान पानि, तून कटि,
महाबीर बिदित, जितैया बड़े रन के।
सेवक-सुख-दायक, सबल, सब लायक,
गायक जानकीनाथ गुनगन के ॥३॥
भावते भरत के, सुमित्रा-सीता के दुलारे,
चातक चतुर राम स्याम घन के।
बल्लभ उरमिला के, सुलभ सनेहबस,

–'हे प्यारे लखनलालजी, आप भक्तों का हित करने वाले हैं। स्मरण करते ही आप संकट हर लेते हैं। सब प्रकार के सुन्दर कल्याण करने वाले, अपने प्रण को पालने वाले और दीनों पर कृपा करने वाले हैं ॥१॥ पृथ्वी को धारण करने वाले, संसार का भार दूर करने वाले, बड़े साहसी और शेषनाग के अवतार हैं। अपने प्रण और व्रत को सत्य करने वाले, धर्म के परम प्रेमी तथा निर्मल मन, वचन और कर्मवाले

हैं ॥२॥ आप सुन्दरता के भंडार हैं हाथों में धनुष-बाण धारण किये और कमर में तरकस कसे हुए हैं, आप विश्व-विख्यात महान् वीर हैं! और बड़े बड़े संग्राम में विजय प्राप्त करने वाले हैं। आप सेवकों को सुख देने वाले, महा बली; सब प्रकार से योग्य और जानकीनाथ श्रीराम की गुणावली के गाने वाले हैं ॥३॥ आप भरतजी के प्यारे, सुमित्रा और सीताजी के दुलारे तथा राम-रूपी श्याम मेघ के चतुर चातक हैं, उर्मिलाजी के प्राणवल्लभ और प्रेम से सहज ही में मिलने वाले हैं।'

किसी ने गोस्वामीजी से पूछा– सबके नाते तो आपने लक्ष्मणजी से गिना दिये, तो क्या आपका भी उनसे कोई नाता है? उत्तर में गोस्वामीजी बड़ी ही सुन्दर बात कहते हैं–

धनी धन तुलसी से निरधन के ॥४॥

–हे लक्ष्मणजी, आप तुलसीदास जैसे निर्धन के धनी और धन दोनों हैं।

किसी ने मुझसे कहा कि गोस्वामीजी ने 'मानस' में श्री भरत के चरित्र का तो बड़ा विस्तार किया है, पर वे लक्ष्मणजी के विषय में बड़े कृपण हैं। मैंने उत्तर में कहा कि भई, लक्ष्मणजी उनके धन हैं न। धन को तो छिपाया ही जाता है। तो, यदि गोस्वामीजी ने लक्ष्मण को छिपाया, तो किसी न्यूनता के कारण नहीं अपितु उनकी विशेषता के कारण। और उनकी यह विशेषता वे 'चातक चतुर राम स्याम घन के' कहकर प्रकट करते हैं। गोस्वामीजी का यह जो चतुर चातक है, वह आपको संसार के वृक्ष में नहीं मिलेगा, वह तो 'दोहावली रामायण' की डाली पर मिलेगा। वास्तव में वह तो स्वयं गोस्वामीजी का अन्तःकरण ही

है, जो चातक के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है। गोस्वामीजी चातक के स्वाति-नक्षत्र के जल के प्रति प्रेम की बड़ी ही सुन्दर चर्चा करते हैं। चातक गर्मी में जा रहा था। उसे गर्मी के कारण जोरों की प्यास लगी। पर वह जल तो पी नहीं सकता था। उसने सोचा कि छाया में थोड़ा विश्राम कर लें। उसने देखा कि आम का एक बाग है, छाया बड़ी घनी है। चातक ने विचार किया कि जरा चलकर इस छाया में अपनी थकान थोड़ी मिटा लें। पर बाग में जाते जाते उसके मन में अचानक एक प्रश्न आ गया और उसने बाग के रखवाले को पुकारा, उससे कहा कि भाई, जरा बाहर तो आना। रखवाले ने चातक से कहा —तुम भीतर क्यों नहीं आ जाते? चातक बोला —तुम मेरे प्रश्न का उत्तर दे दो, तब मैं भीतर आऊंगा। रखवाला बाग से बाहर निकल आया, पूछा— क्या प्रश्न है तुम्हारा? चातक ने पूछा — ये जो बाग के वृक्ष हैं, ये किस जल से सींचे गये हैं? रखवाला बड़ा बिगड़ा, कहा— बाग को सींचने में कोई नियम होता है क्या? चाहे वर्षा का जल हो, चाहे कुएं का, हमें जो जल मिलता है, उससे सींच देते हैं। गोस्वामीजी 'दोहावली' में लिखते हैं—

> उष्न काल अरु देह खिन मग पंथी तन ऊख।
> चातक बतियां ना रुचीं अन जल सींचें रूख ॥३१०
> अन जल सींचे रूख की छाया तें वरु घाम।
> तुलसी चातक बहुत हैं यह प्रवीन को काम ॥३११

—चातक को लगा कि ये वृक्ष स्वाति-नक्षत्र के जल से नहीं सींचे गये हैं। उसने निर्णय लिया कि यदि ये वृक्ष स्वाति-नक्षत्र के जल से सींचे गये होते, तब तो मैं उनकी छाया में विश्राम कर लेता, पर अब तो ऐसी छाया में बैठने की

अपेक्षा गर्मी में मर जाना ही श्रेयस्कर होगा! तुलसी कहते हैं कि अपने को चातक कहने वाले तो बहुत हैं पर ऐसी निष्ठा-वाला चातक तो जो अपनी उस निष्ठा के लिए जीवन के बड़े बड़े सुख का भी त्याग कर दें, कोई बिरला ही है। वही है चतुर चातक। और गोस्वामीजी के ये चतुर चातक हैं लक्ष्मणजी। गोस्वामीजी समझ गये कि स्वाति नक्षत्र के प्रेमी की प्रिया को जब तक 'जानकी लघु भगिनी' के सम्बन्ध से संबोधित नहीं करेंगे, यह चातक शायद विवाह करना भी स्वीकार नहीं करेगा। जब वह अन्य जल से सींचे गये वृक्ष की छांह में बैठने को भी प्रस्तुत नहीं है, तब जिसका श्री सीता और श्री राम से सम्बन्ध न हो, वह श्री लक्ष्मणको कैसे प्रिय हो सकता है? कहने का तात्पर्य यह है कि लक्ष्मणजी श्री राम के प्रति जितने समर्पित हैं, उतनी ही उर्मिलाजी जानकी जी के प्रति समर्पिता हैं। श्री लक्ष्मण और उर्मिला जी में आत्म-बलिदान की पराकाष्ठा है। बल्कि यह कहें कि यह पूरा का पूरा परिवार ही बड़ा अनोखा है। यदि हम विचार करें, तो देखेंगे कि सुमित्रा, उर्मिला, श्रुतकीर्ति, लक्ष्मण, शत्रुघ्न-ये सब के सब इतने अनोखे त्यागी हैं, अपने आपको मिटाने की भावना से इतने भरे हुए हैं कि प्रत्येक की यही चेष्टा रहती है कि वह स्वयं सामने न आए। यह बात अलग है कि किन्हीं प्रसंगों में श्री लक्ष्मण सामने आगये हों और कहीं पर सुमित्रा अम्बा को आगे आना पड़ा हो। पर स्वभावतः उनका यही प्रयत्न रहता है कि सामने न आना पड़े। कितना आश्चर्य होता है कि लक्ष्मणजी अपनी पत्नी उर्मिला को छोड़कर चौदह वर्ष के लिए वन चले जाते हैं। और उससे भी अधिक आश्चर्य तब होता है, जब उर्मिला अपने पति के बन जाने के अवसर पर उन्हें प्रणाम करने नहीं

आतीं। लक्ष्मण जी भी वन जाते समय उर्मिला से मिलकर नहीं जाते। यह सब जानकर आश्चर्य ही होना है। इसका क्या कारण हो सकता है? गोस्वामीजी कहते हैं कि सुमित्रा अम्बा का परिवार उपासना का परिवार है—

ज्ञानशक्तिश्च कौशल्या सुमित्रोपासनात्मिका।
क्रिया शक्तिश्च कैकेयी वेदो दशरथो नृपः॥

—कौसल्या अम्बा मानो मूर्तिमती ज्ञानशक्ति हैं, कैकेयी अम्बा मूर्तिमती क्रियाशक्ति हैं, सुमित्रा अम्बा मूर्तिमती उपासनाशक्ति हैं तथा महाराज दशरथ मूर्तिमान् वेद हैं। यदि आप तीनों माताओं की भूमिका पर विचार करें तो देखेंगे कि ज्ञान कर्म और उपासना की जो विशेषता होती है वह इन तीनों में विशेष रूप से दिखायी देती है। ज्ञान की विशेषता है समत्व, वह आपको कौसल्याजी में मिलेगा। क्रिया की विशेषता है रजोगुण और उत्साह वह आपको कैकेयीजी में मिलेगा। उपासना की विशेषता है समर्पण वह आपको सुमित्रा अम्बा के चरित्र में मिलेगा। तीनों का अपना अलग अलग व्यक्तित्व, अलग अलग चरित्र है। कौसल्या अम्बा के लिए गोस्वामी जी कहते हैं कि उन्हें श्रीराम और श्री भरत में कोई भेद ही नहीं दिखायी देता था—

रामभरतु दोऊ सुत सम जानी।२/५४/६

यह ज्ञान की पराकाष्ठा है। कैकेयी अम्बा बड़ी उदार हैं, बहुत ही उत्साही हैं और जैसा कि क्रियापरायण व्यक्ति हुआ करते हैं, वे इस सिद्धान्त का पालन करती हैं कि "मुझसे अच्छा व्यवहार करो, तो हम भी अच्छा व्यवहार करेंगे और तुम यदि एक बुरा करो, तो हम दो बुरा करेंगे।" वे ऐसा सोचती हैं कि यदि राम मुझे अपनी मां से अधिक आदर देता है, तो मैं भी उसे अपने बेटे से अधिक प्यार दूंगी और यदि नहीं

देता, तो–

जस कौसिलां मोर भल ताका ।
तस फलु उन्हहि देउं करि साका ॥ २/३२/८

–'कौसल्या ने मेरा जैसा भला चाहा है, मैं भी साका करके (याद रखने योग्य) उन्हें वैसा ही फल दूंगी।' यह क्रिया की वाणी है। उपासना की भाषा इससे सर्वथा भिन्न है। सुमित्रा अम्बा में उपासना का यह रूप प्रारंभ से ही दिखता है, जब यज्ञपुरुष द्वारा प्रदत्त पायस को तीनों रानियों में वितरण किया गया ।

आप 'रामचरितमानस' में पढ़ते हैं कि जब महाराज दशरथ ने पुत्रकामेष्टि यज्ञ कराया, तब स्वर्ण पात्र में चरु लेकर अग्निदेव प्रकट हुए । उन्होंने चरु का पात्र महाराज दशरथ को देते हुए कहा– इसे ले जाकर अपनी रानियों में बांट दो । जब पूछा गया कि किस आधार पर बांटा जाय, तो उत्तर मिला–

जथा जोग जेहि भाग बनाई (१/१८८/८)

–जिसको जैसा उचित हो, वैसा भाग बनाकर बांट दो। अब यहां पर यह प्रश्न होता है कि अग्निदेव को ऐसा कहने की क्या आवश्यकता थी कि खीर को, हवि को बांटकर जो जिस योग्य हो उसे वैसा दे दो ? तो, इसके पीछे एक कथा है ।

अन्यत्र संकेत प्राप्त होता है कि महाराज दशरथ के जब कोई सन्तान नहीं हुई और कैकेयीजी से उनके विवाह का प्रसंग आया, तो कैकेयी के पिता महाराज कैकय ने महाराज दशरथ के समक्ष एक शर्त रखते हुए कहा– मैं अपनी कन्या का आपसे विवाह तभी करूंगा, जब आप प्रतिज्ञा करें कि मेरी कन्या से उत्पन्न पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी

होगा । महाराज कैकय क्रिया के पिता हैं, इसलिए बिना लेन-देन के वे कोई बात स्वीकार नहीं करते । क्रिया जब तक परिणाम को नहीं देख लेती, तब तक वह क्रियमाण नहीं होना चाहती । कैकय हैं रजोगुण । रजोगुण की कन्या है क्रिया । रजोगुण से क्रिया का जन्म होता है । कौसल्या और सुमित्रा के विवाह में कोई शर्त नहीं है, जबकि कैकेयी के विवाह में है । तो, जब महाराज दशरथ के सामने यह शर्त रखी गयी, उन्होंने सोचा कि इसमें भला क्या कठिनाई हो सकती है, अन्य रानियों से तो कोई सन्तान है नहीं, इसलिए कैकेयी से जो पुत्र प्राप्त होगा, राज्य उसे दे देंगे । वे यह तो नहीं जानते थे कि आगे क्या क्या होने वाला है । इसलिए अग्निदेव जब प्रकट होकर उन्हें चरु देकर कहते हैं कि इसे रानियों में यथोचित रूप से बांट दो, तो यह महाराज दशरथ के समक्ष एक समस्या बन गयी । वे कैकेयी से उनके पुत्र को राज्य देने के लिए वचनबद्ध हैं, ऐसी दशा में उनके लिए उचित तो यही होता कि वे चरु मात्र कैकेयी को ही देते । उससे राज्य के उत्तराधिकार के लिए संघर्ष की कोई संभावना उत्पन्न नहीं होती । लेकिन अग्निदेव कहते हैं कि चरु का वितरण करना है । यज्ञ का तात्पर्य भी वितरण ही है-- अकेले मत ग्रहण करो, बांटकर ग्रहण करो । तो, ऐसे में राजा दशरथ के लिए एक सरल उपाय यह था कि तीनों रानियों को चरु का बराबर बराबर भाग दे दिया जाता । पर वहां भी अग्नि-देव ने एक सूत्र रख दिया-- 'जो जिस योग्य हो, उसे उतना भाग देना है ।' यह बड़ा कठिन कार्य था, पर महाराज दशरथ ने यह वितरण का कार्य न्यायपूर्वक किया । यदि वे ममता में पड़कर वितरण करते, तो संभव था कि वे कैकेयी जी को पूरा का पूरा चरु दे देते, क्योंकि कैकेयी जी ने अपने सौन्दर्य

से उन्हें आसक्त बना रखा था। फिर, कैकयीजी में स्वभाव की तेजस्विता भी थी। किन्तु महाराज दशरथ ने पूरे न्याय के साथ बांटने का काम किया। उन्होंने चरु का आधा भाग कौसल्याजी को, प्रान को दिया– 'अर्ध भाग कौसल्यहि दीन्हा' (१/१८६/२) और आधे बचे हुए भाग के फिर दो भाग किये। उसका एक भाग उन्होंने कैकेयीजी को दिया। अब सीधा क्रम यही होता कि शेष दूसरे भाग को वे सुमित्रा जी को दे देते। पर गोस्वामीजी कहते हैं कि महाराज दशरथ ने स्वयं अपने हाथ से सुमित्रा जी को नहीं दिया। वे इस बचे अंतिम भाग के पुनः दो भाग कराते हैं और कौसल्याजी तथा कैकेयीजी के हाथ में एक एक भाग रख देते हैं और उन दोनों से अनुरोध करते हैं कि वे अपने हाथ से वह सुमित्रा को दे दें। यह बड़ा विचित्र बंटवारा है। पहले आधा आधा करना। फिर आधे के दो भाग करना। इन दो भागों में से एक कैकेयी को देकर बचे हुए दूसरे भाग के फिर दो भाग करना और इन दो भागों को अपने हाथ से सुमित्राजी को न देकर कौसल्याजी और कैकेयी के हाथ से उन्हें दिलाना! इसका क्या तात्पर्य हो सकता है? महाराज दशरथ इस बंटवारे की प्रक्रिया के द्वारा मानो अपनी रानियों को यह बताना चाहते हैं कि मैंने तो वितरण किया ही, अब तुम लोग भी वितरण करना सीखो। वितरण का अधिकार केवल मुझे नहीं, बल्कि तुम लोगों को भी है।

अच्छा, इस वितरण की प्रणाली में किसके प्रति पक्षपात होता है? अलग अलग दृष्टि से देखने पर पक्षपात भी अलग अलग के प्रति हुआ दिखायी देता है। एक दृष्टि से लगता है कि आधा भाग कौसल्या जी को देकर उनके प्रति अधिक सम्मान प्रदर्शित किया गया है, पर कैकेयीजी

सोचती हैं कि भले ही मैं पट्टमहिषी नहीं हूं तथापि महाराज ने अपने हाथ में मुझे चरु देकर मेरा सन्मान किया है। ऊपरी दृष्टि से ऐसा लगता है कि सुमित्रा अम्बा को अन्य दो रानियों की तरह सन्मान नहीं मिला, क्योंकि महाराज दशरथ अपने हाथ से उन्हें चरु नहीं देते। पर यदि भीतर की दृष्टि से देखें, तो यह बात ठीक नहीं मालूम पड़ती, क्योंकि सुमित्रा जी तो उपासनारूपा हैं। उपासना को सम्मान की आवश्यकता नहीं होती, उसमें अभिमान की भावना नहीं होती। अतएव यह निर्णय करना कठिन है कि सबसे अधिक पक्षपात किसके साथ हुआ, क्योंकि जब अन्य रानियों को एक एक पुत्र ही मिला, सुमित्रा अम्बा को दो पुत्र मिले। अतएव एक दृष्टि से देखें तो कौसल्याजी के प्रति पक्षपात दिखायी देता है, और दूसरी दृष्टि से देखने पर कैकेयीजी के प्रति तथा यदि पुत्रों की संख्या की दृष्टि से देखें, तो सुमित्रा जी के प्रति।

यह यज्ञ का चक्र है। अग्नि में आहुति दी गयी और अग्नि ने चरु दिया। जो देता है, वह पाता है। जो दिया जाता है, वह लौटकर आता है। यही चक्र है। जब मुनि विश्वामित्र के अनुज सहित श्री रघुनाथ के मांगने पर महाराज दशरथ ने कहा—

चौथे पन पायउं सुत चारी।
बिप्र बचन नहिं कहेहु बिचारी॥ १/२०७/२

—हे विप्र, मैंने वृद्धावस्था में चार पुत्र पाये हैं, आपने विचार करके नहीं मांगा, तब विश्वामित्र को बड़ी हंसी आयी। उनका तात्पर्य यह था कि राजन्, तुम्हारे कोई भी पुत्र नहीं था, तुम मुनि के पास गये और उन्होंने तुम्हें चार पुत्र दे दिये। अब एक मुनि जब तुमसे आवश्यकता पड़ने के कारण तुम्हारे

दो पुत्रों की मांग कर रहा है, दो तुम देने में आनाकानी कर रहे हो। यह कैसा बंटवारा है ! बंटवारे की प्रक्रिया कहती है कि जब पाते हो, तो दो भी। जब चार पाते हो, तो कम से कम दो तो देने का विचार रखो। यह वितरण है। अग्नि को दोगे, तो वह भी लौटाएगी। लौटाने के बाद स्वयं अपने पास मत रखो बल्कि बांटो। महाराज दशरथ को चरु मिला, तो उन्होंने बांटा और उन्होंने चरु जिस-जिसको दिया, उस-उससे भी कहा कि बांटो। वितरण के अन्त में पता चलता है कि सुमित्रा अम्बा ने दो भाग पाये। और धन्य हैं सुमित्रा अम्बा ! उनकी महानता कितनी है ! उनसे बढ़कर त्याग और किसी का नहीं है। उन्हें कौसल्याजी से एक और कैकेयीजी से एक ऐसे दो भाग मिलते हैं और वे लक्ष्मण और शत्रुघ्न दो पुत्रों को जन्म देती हैं, पर एक भी पुत्र को अपने लिए नहीं रखतीं, वे दोनों को अन्य दो माताओं के पुत्रों की सेवा के लिए समर्पित कर देती हैं– लक्ष्मण को राम की सेवा में लगा देती हैं और शत्रुघ्न को भरत की। यही उपासना है, जो अपने लिए कुछ नहीं बचाती, जो अपने पुत्रों को राजा बनने की नहीं, सेवक बनने की दीक्षा देती है। कैकेयी जी की महत्वाकांक्षा हो सकती है कि मेरा पुत्र राजा बने। कौशल्याजी को, ज्ञानशक्ति होने के नाते, आदर-णीया होने के नाते, अपने पुत्र की राज्य प्राप्ति पर सन्तोष हो सकता है, पर जिसने अपने पुत्रों को सेवाधर्म की दीक्षा दी, वह तो उपासना ही हो सकती है। सेवा में इतनी आसक्ति, इतनी महत्त्वबुद्धि सुमित्रा अम्बा के चरित्र को छोड़ और किसमें मिल सकती है ? यही कारण था कि जब श्री राम राज्य का परित्याग कर, अपने चरित्र के महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए, बन जाने को प्रस्तुत हुए, तो लक्ष्मणजी भी उनके

साथ चलने का आग्रह करते हैं। उस समय श्री राम और श्री लक्ष्मण में स्नेहभरा संवाद होता है। जब लक्ष्मणजी को समाचार मिलता है कि श्री राम वन को जा रहे हैं, तो उनकी स्थिति विलक्षण हो जाती है। उनके जीवन में राम के वियोग की कल्पना ही नहीं है। गोस्वामीजी लिखते हैं–

समाचार जब लछिमन पाए।
ब्याकुल बिलख बदन उठि धाए॥
सोचु हृदयं बिधि का होनिहारा।
सबु सुखु सकृतु सिरान हमारा॥
मो कहुं काह कहब रघुनाथा।
रखिहहिं भवन के लेहहिं साथा॥
राम बिलोकि बंधु कर जोरें।
देह गेह सब सन तृनु तोरें॥ २/६९/१, ४-१

–जिस समय लक्ष्मण भगवान् राम के सामने आकर खड़े हुए, उस समय प्रभु को लगा कि लक्ष्मण न देह में हैं, न गेह में – मानो व्याकुलता की मूर्ति बने खड़े हैं। वे श्री लक्ष्मण को बड़े प्रेम से गले से लगा लेते हैं और बाद में सुन्दर उपदेश देते हैं। आज पहली बार प्रभु ने बड़ा उपयुक्त भाषण दिया, कहा– लक्ष्मण, तुम्हारे समान वीर पृथ्वी में कोई नहीं है; याद रखो तुम जैसा वीर यदि कर्तव्य से भागेगा, तो कायर कहलाएगा। इसलिए मैं तुमसे कहता हूं–

तात प्रेम बस जनि कदराहू।
समुझि हृदयं परिनाम उछाहू॥ २/६९/८
जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृपु अवसि नरक अधिकारी॥ २/७०/६

–'तात, परिणाम में होने वाले आनन्द को हृदय में समझकर तुम प्रेमवश अधीर मत होओ...। जिसके राज्य में प्यारी

प्रजा दुखी रहती है, वह राजा अवश्य ही नरक का अधिकारी होता है।' और इन शब्दों में प्रभु श्री लक्ष्मण को घर पर रहने के लिए कहते हैं। पर हम देखते हैं कि लक्ष्मण जी प्रभु की बात नहीं मानते। यह अनोखी बात लगती है तो क्या लक्ष्मणजी सचमुच प्रभु की आज्ञा का उल्लंघन करते हैं? नहीं। तब इसके पीछे का रहस्य क्या है? प्रश्न उठता है कि क्या प्रभु वास्तविक ही लक्ष्मणजी को रुकने के लिए कह रहे थे अथवा वे मात्र यह कहकर अपने धर्म का पालन कर रहे थे कि मेरे साथ न चलो, यहां रुककर सबकी सेवा करो? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि प्रभु तब लक्ष्मणजी से रुकने के लिए उतना नहीं कह रहे थे, जितना वे स्वयं अपने धर्म पालन करने की दृष्टि से कह रहे थे। जब भी ऐसा अवसर आवे कि हम किसी से अपनी सेवा लें या समाज़ की, तो हर महापुरुष का सच्चा स्वरूप यही होगा कि वह अपनी सेवा के स्थान पर समाज की सेवा को महत्त्व दे। इसीलिए भगवान् राम श्री लक्ष्मण को उपदेश देते हैं कि तुम्हारा कर्तव्य राज्य और समाज की सेवा है, मेरी व्यक्तिगत सेवा नहीं। पर लक्ष्मण जी अपनी भूमिका को इतनी अच्छी तरह जानते हैं कि भगवान् राम के कहने का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। श्री भरत और श्री लक्ष्मण के चरित्र का मुख्य भेद यही है कि श्री भरत भगवान् राम के आदर्श के, विचारों के सेवक हैं, जबकि श्री लक्ष्मण प्रभु के व्यक्तिगत सेवक हैं। प्रश्न उठता है कि महापुरुषों की व्यक्तिगत सेवा की जानी चाहिए या उनके विचारों की? हम भले ही इसके उत्तर में कहें कि विचारों की सेवा का अधिक महत्त्व है, पर केवल इतना ही उत्तर अपूर्ण होगा, क्योंकि जिस महापुरुष के द्वारा किसी महान आदर्श की

सृष्टि हो रही हो, उसकी व्यक्तिगत सेवा भी उतनी ही अपेक्षित है। विचार की सेवा में यश है और जो व्यक्तिगत सेवा में रहता है, उसे समाज उतने सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता। जो वृक्ष के पत्तों की सेवा करता है, उसे तो सभी देखते हैं और वह सबकी प्रशंसा का पात्र होता है, पर जो वृक्ष के मूल में जल देकर वस्तुतः प्रकारांतर से पत्तों की ही सेवा कर रहा है, उसकी वह सेवा दिखाई नहीं देती। श्री भरत भगवान् राम के महान् आज्ञाकारी हैं और श्री लक्ष्मण भगवान् राम की आज्ञा कभी मानते हैं, कभी नहीं मानते। जो आदर्श का सेवक है, उसे आज्ञाकारी होना चाहिए और जो शरीर का सेवक है, उसे पूरी तरह आज्ञाकारी नहीं होना चाहिए। महापुरुषों के आदर्श की, उनके विचारों की सेवा करनी है, तो उनके आदर्श को, विचारों को प्रसारित कीजिए। पर यदि किसी महापुरुष के शरीर की सेवा करनी हो और वह महापुरुष सेवा लेने में संकोची हो तथा सेवक भी कहीं आज्ञाकारी मिल जाए, तब तो सेवा हो गयी! आप किसी महापुरुष के चरण दबाने चले और वे कह दें आवश्यकता नहीं है, तो आप भी यदि 'जब आपकी आज्ञा ऐसी है, तो ठीक है' यह कहकर चरण दबाना छोड़ दें, तो फिर सेवा किस प्रकार होगी? ऐसी स्थिति में सेवक ऐसा चाहिए, जो महापुरुष के रोकने की परवाह न करे और आवश्यकता समझकर सेवा करता रहे। श्री भरत और श्री लक्ष्मण में यही अन्तर है। भरतजी सोचते हैं कि हमारे प्रभु इतने महान् हैं कि जो कहेंगे, ठीक ही कहेंगे। और लक्ष्मणजी कहते हैं कि हमारे राम भोले हैं और बिना सोचे समझे आज्ञा दिया करते हैं, उनकी बात मानने से वे ही संकट में पड़ जाएंगे। ये दोनों ही प्रीति की भावनाएं हैं-

भरत और लक्ष्मण दोनों ही महान् प्रेमी हैं, पर भरतजी की प्रीति में अधिकार की वह वृत्ति नहीं, जो लक्ष्मणजी की प्रीति में है। तथापि लक्ष्मणजी के अन्तःकरण में अधिकार की यह जो वृत्ति है, वह अपने सुख के लिए नहीं, श्री राम को सुखी बनाने के लिए है। वे श्री राम से बार बार यही कहते हैं कि आप में बहुत गुण होंगे, पर आप अच्छे पारखी नहीं हैं—

नाथ सुहृद सुठि सरल चित सील सनेह निधान।
सब पर प्रीति प्रतीति जियं जानिअ आपु समान॥ २/२२७

—'हे नाथ, आप परम सुहृद्, सरल हृदय तथा शील और स्नेह के भण्डार हैं, आपका सभी पर प्रेम और विश्वास है और अपने हृदय में सबको अपने ही समान जानते हैं।' यही कारण था कि लक्ष्मणजी और भगवान् राम में सर्वदा एक मतभेद रहा करता था। वे प्रभु से कहा करते— जरा प्रभाव प्रकट कीजिए और स्वभाव छिपा लीजिए। पर प्रभु का स्वभाव है— अपना प्रभाव छिपाना और स्वभाव प्रकट करना। लक्ष्मणजी को लगता है कि संसार प्रभाव से ही नियंत्रित रहेगा, क्योंकि लोग स्वभाव की कोमलता का दुरुपयोग करते हैं।

सो, प्रभु ने जब कहा कि लक्ष्मण, तुम मेरे साथ न चलो और धर्म-पालन के लिए यहीं रहो, तो लक्ष्मणजी ने उन्हें दो-चार वाक्यों में चुप करा दिया। उन्होंने प्रभु से पूछ दिया——आप जो यह उपदेश दे रहे हैं, उसका फल क्या है? प्रभु बोले— धर्म का पालन करने से समाज में व्यवस्था की वृद्धि होती है, ऐश्वर्य प्राप्त होता है और मरने के बाद सद्गति मिलती है। लक्ष्मणजी ने उलटकर पूछा— यदि किसी को तीनों में से कुछ नहीं चाहिए हो, तो वह धर्म का पालन करे या न करे? उत्तर मिला—नहीं चाहिए तो कैसे हम कहें

कि करे। लक्ष्मणजी ने कहा– मुझे कुछ नहीं चाहिए; मुझे कीर्ति नहीं, कलंक चाहिए; ऐश्वर्य नहीं, दरिद्रता चाहिए; स्वर्ग नहीं, नरक चाहिए। सबके बदले में मुझे सेवा चाह और कुछ नहीं चाहिए। ऐसे हैं लक्ष्मणजी, जिनका अन्तः करण त्याग की सुवास से भरा हुआ है। वे कह देते हैं–

धरम नीति उपदेसिअ ताही।
कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥ २/७१/७

–'धर्म और नीति का उपदेश तो उसको करना चाहिए, जिसे कीर्ति, विभूति (ऐश्वर्य), या सद्गति प्यारी हो।'

प्रभु अचरज से लक्ष्मणजी की ओर देखते हैं, कहते हैं- मैंने इतना बढ़िया धर्म बताया और तुमने स्वीकार नहीं किया। लक्ष्मण जी उत्तर देते हैं– प्रभु, आपका धर्म तो बढ़िया है, पर मेरे योग्य नहीं है। जैसे, आप किसी को बढ़िया कपड़े का कुरता बनवाकर दें और कहें कि कपड़ा इतने रुपये का है, सिलाई इतनी लगी है, और यह न देखें कि कुरता उसकी माप का है या नहीं, तो ऐसा ही यहां लक्ष्मणजी के साथ हो गया। वे कहते हैं– प्रभु, आपने तो धर्म का बढ़िया कुरता बनाकर दे दिया, पर यह नहीं देखा कि वह मेरी माप का है या नहीं। मैं तो शिशु हूं। आप बड़ों का कपड़ा छोटे को पहनाना चाहते हैं? प्रभु ने कहा– लक्ष्मण, छोटे का कर्तव्य होता है कि वह बड़े का भार उठाए, तुम छोटे भाई हो, मेरा भार हलका करो। पर लक्ष्मणजी ने कहा– प्रभु, छोटे की भी एक सीमा होती है। अगर २० वर्ष का कोई बड़ा भाई है, तो १९ वर्ष वाले छोटे भाई क यह कर्तव्य है कि बड़े का भार उठाए, पर अगर २ वर्ष का छोटा भाई हो और बड़ा भाई उससे कहे कि तुम छोटे हो, बोझ उठाओ, तो बड़ा भाई भूल कर रहा है। वह नन्हा शिशु तो गोद में

लेने योग्य है, वह भार क्यों उठाएगा? श्री लक्ष्मण कह उठते हैं—

मैं सिसु प्रभु सनेहं प्रतिपाला।
मंदरु मेरु कि लेहिं मराला ॥ २/७१/३

—'मैं तो प्रभु, आपके स्नेह में पला हुआ छोटा बच्चा हूं। कहीं हंस भी मंदराचल या सुमेरु पर्वत को उठा सकता है? प्रभु बोले— लक्ष्मण, तुम यदि ऐसा कहो, तो बोझ फिर कौन उठाएगा? लक्ष्मणजी ने कहा—

नरबर धीर धरम धुर धारी।
निगम नीति कहुं ते अधिकारी ॥ २/७१/२

—शास्त्र और नीति के तो वे ही श्रेष्ठ पुरुष अधिकारी हैं जो धीर हैं और धर्म की धुरी को धारण करने वाले हैं। ऐसे श्रेष्ठ अधिकारी भाई भरत तो आ ही रहे हैं। वे सारे कर्तव्य का बोझ उठा ही लेंगे। इसलिए—

गुर पितु मातु न जानउं काहू।
कहउं सुभाउ नाथ पतिआहू ॥
जहं लगि जगत सनेह सगाई।
प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई ॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी।
दीनबन्धु उर अन्तरजामी ॥ २/७१/४-६

—स्वभाव से ही कहता हूं, आप विश्वास करें, मैं आपको छोड़कर गुरु, पिता, माता किसी को भी नहीं जानता। जगत् में जहां तक स्नेह का सम्बन्ध, प्रेम और विश्वास है, जिनको स्वयं वेद ने गाया है— हे स्वामी, हे दीनबन्धु, हे सबके हृदय के अन्दर की जानने वाले, मेरे तो वे सब कुछ आप ही हैं। और ऐसा कह अन्त में लक्ष्मणजी दुहाई देते हुए कहते हैं —

नाथ दासु मैं स्वामि तुम्ह तजहु न काह बसाइ। २/७१

—हे नाथ, मैं दास हूं और आप स्वामी हैं; अतः आप मुझे छोड़ ही दें तो मेरा क्या वश है? लक्ष्मणजी का तात्पर्य यह है कि प्रभु, आप ईश्वर हैं, मेरे स्वामी हैं और मैंने तो सुना है कि ईश्वर कभी अपने आश्रित का त्याग नहीं करता। अब यदि आप मुझे छोड़ जाएंगे, तो इसका मतलब यही होगा कि आप अपने धर्म का त्याग कर रहे हैं। और जब आप ही अपने धर्म का इस प्रकार त्याग कर देंगे, तब भला मैं अपने धर्म का पालन कैसे कर पाऊंगा? इसलिए, प्रभु, आप मुझे साथ रखकर अपने धर्म का पालन कीजिए और मुझे सेवा का अवसर प्रदान कीजिए।

प्रभु समझ गये कि यहां तर्क काम नहीं देने वाला है। वे एक अनोखा खेल करते हुए कहते हैं—

मागहु बिदा मातु सन जाई। २/७२/१

—जाकर माता से विदा मांग आओ। जरा शब्दों को देखिए, प्रभु यह नहीं कहते कि जाकर माता से आज्ञा मांग लो। वे जानते थे कि लक्ष्मण फिर से नाही कर देंगे। आज्ञा मांगना और विदा मांगना इन दोनों में अन्तर है। आज्ञा मांगने में बंधन है, पर विदाई में मात्र शिष्टाचार की पूर्ति है। यदि आज्ञा ही लेनी होती, तो श्री लक्ष्मण को प्रभु माता के पास क्यों भेजते, तब तो पिता के पास भेजते, क्योंकि पिता राजा हैं और राजा से आज्ञा मांगना ही समीचीन होता। पर प्रभु तो खेल कर रहे हैं। वे सोचते हैं कि लक्ष्मण सब कुछ त्यागकर मेरे साथ चल रहा है, वह एक बार सुमित्रा अम्बा से मिल तो ले। प्रभु कभी कभी दो भक्तों को मिलाकर अनोखा रस लेते हैं। मिलाने का उद्देश्य यह होता है कि दोनों भक्त मिलकर एक दूसरे से कुछ ले लें, कुछ पा लें, जिस से किसी के

मन में यह भावना भूल से भी न उत्पन्न हो कि मेरी भक्ति और मेरा ज्ञान अनूठा है। सुमित्रा अम्बा और लक्ष्मण का मिलन इसी भूमिका को प्रस्तुत करता है।

'रामचरितमानस' में लंकाकांड में प्रसंग आता है कि लक्ष्मणजी को दो बार शक्ति लगी—एक बार मेघनाद के द्वारा और दूसरी बार रावण के द्वारा। जब मेघनाद के द्वारा शक्ति लगी, तो भगवान् ने सुषेण वैद्य को बुलवाया, दवा पूछी गयी और हनुमानजी को दवा लेने भेजा गया। पर जब रावण ने शक्ति मारी और लक्ष्मणजी मूर्छित हुए, तब भगवान् ने न वैद्य बुलाया, न दवा की। हनुमानजी लक्ष्मणजी को प्रभु की गोद में रख गये। प्रभु ने लक्ष्मण के कान में एक वाक्य कहा—

तुम्ह कृतांत भच्छक सुर त्राता। ६/८३/६

—लक्ष्मण, तुम काल को खाने वाले हो, इस प्रकार से पड़े रहोगे तो मैं कितनी बार वैद्य और दवा बुलाऊंगा। और प्रभु के यह कहते ही लक्ष्मणजी क्षण भर में उठकर बैठ गए। उस रात्रि प्रभु की चरणसेवा करते हुए हनुमानजी बोले—प्रभु, पूरा रहस्य प्रकट हो गया कि आपने मुझे दवा लेने पहली बार क्यों भेजा था। जैसे इस समय आपने लक्ष्मणजी को चैतन्य कर दिया, वैसे ही तब भी तो कर सकते थे, पर उस बार तो आप मुझे श्री भरत से मिलाना चाहते थे और इस बार लक्ष्मणजी की मूर्छा के माध्यम से आपने उनके स्वरूप-को प्रकट कर दिया, यह बता दिया कि लक्ष्मणजी काल के भी काल हैं, फिर वहां मूर्छा कहां हैं, उन्हें कौन परास्त कर सकता है? तो,प्रभु दवा लाने के बहाने हनुमानजी और भरतजी इन दो सन्तों का मिलन कराते हैं और दोनों इस मिलन का अलग अलग अर्थ लेते हैं।

श्री भरत से यदि कोई पूछ दे कि हनुमानजी औषध लेकर अयोध्या के ऊपर क्यों आये, तो वे कहेंगे कि प्रभु ने मेरे प्रश्न का उत्तर देने के लिए उन्हें भेजा था। उत्तरकाण्ड के प्रारंभ में हमें भरतजी के मन का ऊहापोह दिखायी देता है। वे कहते हैं– मेरे मन में एक प्रश्न उठता था कि प्रभु मुझे साथ क्यों नहीं ले गए? मैंने तो चित्रकूट में प्रभु के समक्ष एक विकल्प रखा था कि लक्ष्मण को वापस कर मुझे साथ में ले लें, पर प्रभु मुझे नहीं ले गए, लक्ष्मण का ही चुनाव किया। यह प्रश्न मेरे मन में छिपा हुआ था। तो हनुमानजी को भेजकर उन्होंने मेरे इस प्रश्न का उत्तर दे दिया। प्रभु समझ गए कि मैं कैसा हूं–

> अहइ धन्य लछिमन बड़भागी।
> राम पदारबिन्दु अनुरागी॥
> कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा।
> ताते नाथ संग नहिं लीन्हा॥ ७/०/३७

–अहा हा, लक्ष्मण बड़े धन्य एवं बड़भागी हैं, जो श्री रामचन्द्र जी के चरणारविन्द के प्रेमी हैं। मुझे तो प्रभु ने कपटी और कुटिल पहचान लिया, इसी से नाथ ने मुझे साथ नहीं लिया। उन्होंने हनुमानजी को भेजकर मुझे दिखा दिया कि मैं कैसा हूं। जिस समय हनुमान जैसा सन्त पर्वत लेकर आकाश के ऊपर दिखायी पड़ा और मैंने राक्षस समझकर उस पर बाण चला दिया, तभी से मुझे अपने चरित्र का सच्चा ज्ञान हो गया कि जो इतने बड़े सन्त को निशाचर समझता है, उसकी दृष्टि कितनी मलिन न होगी! यदि हनुमानजी न आये होते, तो मैं अपनी दृष्टि की मलिनता को जानता कैसे? भक्त तो निशाचर में भी भगवान् देखता है और मैंने भक्त में निशाचरत्व देखा। मैंने समझ लिया कि मेरी दृष्टि

कितनी मलिन है। मानो मैं राक्षस की श्रेणी में ही चला गया। प्रभु के एक सेवक लक्ष्मणजी को मेघनाद ने गिराया और दूसरे सेवक हनुमानजी को मुझ जैसे नीच ने। मैं तो लंका-वासियों की ही श्रेणी में आ गया। इस प्रकार प्रभु ने मुझे दिखा दिया कि मैं इस योग्य था ही नहीं कि वे मुझे ले जाते। सन्त के दर्शन से मुझे अपनी कमीं का ज्ञान हो गया।

पर जब प्रभु ने हनुमानजी से पूछा कि तुम्हें भरत से मिलकर कैसा लगा, तो उन्होंने कहा—प्रभु सच कहूं, आपके चरणों में इतने दिन रहकर भी मैं जितना नहीं सीख पाया, उससे कहीं अधिक मैंने भरत जी के पास एक घंटे रहकर सीख लिया। जब भरत जी ने मुझ पर बाण मारा और मैं नीचे गिर पड़ा, तो पर्वत ऊपर ही रह गया। इससे मुझे पहली शिक्षा यह मिली कि पर्वत उठाने वाले आप थे, मैं नहीं, क्योंकि यदि मैं पर्वत उठाये होता, तब तो मेरे गिरने के साथ साथ पर्वत भी गिर पड़ता, लेकिन पर्वत तो नहीं गिरा, मैं जरूर गिर गया। अतएव पर्वत को उठाने वाली शक्ति आपकी थी, मैं तो केवल निमित्त दिखाई दे रहा था। यदि भरत जी बाण न मारते, तो इस सत्य की प्रतीति मुझे होती कैसे? और दूसरी शिक्षा तो यह मिली कि मुझमें कोई विश्वास ही नहीं है। विश्वास तो भरत जी में है। पहले मैं अपने को विश्वासी समझता था, पर भरतजी का विश्वास देख मुझे लगा कि मेरा विश्वास कोई विश्वास ही नहीं है। जब लक्ष्मणजी मूर्छित हुए, तो मैं वैद्य को घर सहित उठा लाया। जब दवा की आवश्यकता पड़ी, तो पर्वत उठा लाया। मैं समझता था कि मैं वैद्य ले जा रहा हूं, दवा ले जा रहा हूं। पर जब मैं अयोध्या में मूर्छित हुआ तो भरतजी ने न तो वैद्य बुलाया, न दवा बुलायी,

बस एक वाक्य कहकर मेरी मूर्छा दूर कर दी –

जौं मोरें मन बच अरु काया।
प्रीति रामपद कमल अमाया॥
तौ कपि होउ बिगत श्रम सूला। ६/५८/६-७

–यदि मन, वचन और शरीर से श्रीरामजी के चरण कमलों में मेरा निष्कपट प्रेम हो, तो यह बानर थकावट और पीड़ा से रहित हो जाय। और त्योंही मैं चैतन्य हो गया। तब मुझे लगा कि यदि मुझमें भी श्री भरत की तरह विश्वास होता, तो न मैं वैद्य लाता, न पर्वत, विश्वास के ही आधार पर आपके चरणों की कृपा से लक्ष्मणजी की मूर्छा दूर कर देता। इसीलिए मुझे बोध हो गया कि विश्वास तो भरतजी में है, मुझमें नहीं। तो, दोनों सन्तों ने मिलकर एक दूसरे से एक दूसरे का गुण, एक दूसरे की विशेषता प्राप्त की।

तो, अयोध्या में जब श्री लक्ष्मण भी प्रभु के साथ वन जाने का आग्रह करते हैं तो प्रभु सोचते हैं कि जाने के पहले जरा लक्ष्मण को सुमित्रा अम्बा से मिला दें। और जब माता और पुत्र मिलते हैं, तो यह कहना कठिन हो जाता है कि महान् कौन है। जब विदा लेने के लिए लक्ष्मण सुमित्रा अम्बा के पास पहुंचकर उन्हें प्रणाम करते हैं; तो वे पूछती हैं– बेटा, तुम्हारी आंखों में आंसू कैसे? तब तक उन्हें श्री राम के वनगमन का समाचार नहीं प्राप्त हुआ था। लक्ष्मणजी उन्हें वह समाचार सुनाते हैं। मां व्याकुल हो जाती हैं, उनकी आंखों में आंसू भर जाते हैं। जब लक्ष्मणजी माता की आंखों में आंसू देखते हैं, तो उन्हें शंका होती है –

एहि सनेह बस करब अकाजू। २/७२/७

–कहीं माता स्नेहवश काम न बिगाड़ दें। उन्हें लगता है कि

मैं विदा लेने आया हूं इसलिए माता ममता के वश हो आंसू बहा रही हैं। वे डरते हैं कि मां शायद अब कहेगी कि बेटा शत्रुघ्न तो घर में है नहीं; अब यदि तुम भी चले जाओगे, तो मैं किसके आसरे रहूंगी ? लेकिन जब लक्ष्मणजी सुमित्रा अम्बा का कथन सुनते हैं, तो उन्हें लगता है कि शायद प्रभु ने विदा लेने नहीं, शिक्षा लेने भेजा है। सुमित्रा अम्बा कहती हैं– लक्ष्मण, तुम वैदेही के पुत्र होकर भी देह को माता समझते हो ? तुम्हें तो देह से ऊपर उठ जाना चाहिए था–

> तात तुम्हारि मातु वैदेही ।
> पिता रामु सब भांति सनेही ॥ २/७३/२

–बेटा, जान लो; जानकी तुम्हारी माता हैं और सब प्रकार से स्नेह करने वाले राम तुम्हारे पिता हैं। यदि राम ने माता से विदा मांग आने को कहा, तो तुम्हें सीता के चरणों में गिरकर विदा मांग लेनी थी। यदि तुम ऐसा करते, तो मैं समझती कि तुमने ठीक किया है। तुम कहते हो कि वन जा रहे हो। पर तुम वन कहां जा रहे हो ? तुम तो अयोध्या जा रहे हो। वन तो यह होने जा रहा है, क्योंकि अयोध्या वहीं है, जहां राम हैं –

> अवध तहां जहं राम निवासू ।
> तहंइ दिवसु जहं भानु प्रकासू ॥ २/७३/३

तुम कहते हो कि तुम गुरु, पिता, माता किसी को नहीं मानते। तुम्हें तो राम से यह कहना चाहिए था कि तुम्हीं मेरे गुरु, पिता, माता हो और गुरु, पिता, माता की सेवा प्राण के समान करनी चाहिए, इसलिए मुझे वन साथ ले चलो–

> गुर पितु मातु बंधु सुर साईं ।
> सेइअहिं सकल प्रान की नाईं ॥ २/७३/५

–फिर राम के साथ जाने में तुम्हें क्या दुःख ? तुम तो अपने

माता-पिता के साथ घूमने जा रहे हो। वास्तव में त्याग तो राम कर रहे हैं, जो तुम्हारे लिए राज्य, माता-पिता, सब कुछ छोड़कर वन जा रहे हैं —

तुम्ह कहुं बन सब भांति सुपासू।
संग पितु मातु रामु सिय जासू॥ २/७४/७

—तुम्हें वन में सब प्रकार से आराम रहेगा। तुम ऐसा मत सोचना कि मैं तुम्हारी माता हूं, तुम्हारी माता तो सीता हैं। यदि राम के चरणों के पास बैठकर तुम सोचने लगे कि मेरी माता अयोध्या में है, तो तुम्हारा शरीर भले ही राम के पास रहे, पर तुम्हारा मन मेरे पास अयोध्या आ जायगा। इसलिए बिल्कुल भूल जाओ कि मैं तुम्हारी माता हूं। पर मैं याद रखूंगी कि तुम मेरे बेटे हो, मैं अपने आपको तुम्हारी मां मानूंगी, क्योंकि—

पुत्रवती जुबती जग सोई।
रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥
नतरु बांझ भलि बादि बिआनी।
राम बिमुख सुत तें हित जानी॥ २/७४/१-२

—संसार में वही युवती स्त्री पुत्रवती है, जिसका पुत्र रघुनाथ का भक्त हो। नहीं तो जो राम से विमुख पुत्र से अपना हित जानती है, वह तो बांझ ही अच्छी। पशु की भांति उसका ब्याना व्यर्थ ही है। फिर, जब तुम राम के चरणों में रहोगे, तो तुम्हारे नाम के साथ मेरा नाम भी राम के चरणों में रहेगा — सुमित्रा का पुत्र राम के चरणों में रहने से मेरा भी रहना हो ही जायगा।

माता सुमित्रा लक्ष्मण से एक और मीठी बात कहती हैं। जब सीता तुम्हारी माता हैं, तो मेरा फिर क्या स्थान है? मेरा स्थान वही है, जो दूध के सन्दर्भ में पात्र का होना

है। भगवान् को जब दूध का भोग लगाया जाता है, तब किसी पात्र में उसे रखकर ही ऐसा किया जाता है। बिना पात्र का स्पर्श किये व्यक्ति दूध नहीं पी सकता। तो, सुमित्रा अम्बा अपने को वही पात्र मानती हैं—

भूरि भाग भाजनु भयहु मोहि समेत बलि जाउं।
जौं तुम्हरें मन छाड़ि छलु कीन्ह राम पद ठाउं॥ २/७४

—मैं बलिहारी जाती हूँ, मेरे समेत तुम बड़े ही सौभाग्य के पात्र हुए, जो तुम्हारे चित्त ने छल छोड़कर राम के चरणों में स्थान प्राप्त किया है।

और लक्ष्मणजी मां का उत्तर सुनकर समझ गये कि प्रभु ने मुझे माता के पास क्यों भेजा था। उन्होंने कहा-मां, मैं तुम्हारी पात्रता से धन्य हो गया। यदि दूध अच्छा हो और पात्र ठीक न हो, तो दूध फट जाता है। तुम्हारी पात्रता ने मुझे कृतार्थ कर दिया है।

प्रभु ने लक्ष्मण को विदा मांग आने को कहा, स्वयं नहीं गये। सुमित्रा अम्बा का परिवार बड़ा विलक्षण है, इसे सामान्य बुद्धि से समझा नहीं जा सकता। प्रभु ने सोचा कि मां से मैं एक बार कर्ज ले चुका हूं और उसे लौटाया नहीं, तब भला किस मुंह से अब फिर से उधार मांगने जाऊं? पर उन्हें मां की उदारता पर विश्वास है, इसलिए वे लक्ष्मण से कहते हैं कि तुम्हीं विदा मांग आओ। अच्छा, माता सुमित्रा लक्ष्मण के साथ क्यों नहीं आयीं। इसलिए कि उन्हें लगा कहीं मुझे देखकर राम के मुंह पर संकोच का भाव न आये। जो वस्तु मेरी है नहीं, उसे देने के गर्व का भार मैं क्यों वहन करूं? यही सोचकर वे लक्ष्मण के साथ नहीं आयीं और उन्होंने लक्ष्मण से कहा— जाओ, राम तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे होंगे, तुमने देर लगा दी। वह भक्त ही क्या, जो प्रभु

से प्रतीक्षा करवाये ? और अन्त में माता सुमित्रा लक्ष्मण जी को आशीर्वाद देती हुई कहती हैं—

रति होउ अबिरल अमल सिय रघुबीर पद नित नित नई।
२/७४/छं.

—सीता और राम के चरणों में तुम्हारा निर्मल एव प्रगाढ़ प्रेम नित नित नया हो।

लक्ष्मणजी को माताजी से तो विदा मिल गयी, पर वे सोच रहे थे कि उर्मिला क्या कहती हैं। उन्हें डर था कि कहीं वे प्रणाम करने के लिए न आ जाएं। पर उर्मिला उन्हें प्रणाम करने तक नहीं आयीं। यह देख बड़ा आश्चर्य होता है। उर्मिला ने जब श्री राम और साथ में श्री लक्ष्मण के वनगमन की बात सुनी, तो उन्होंने सोचा,—यदि मैं प्रणाम करने जाऊंगी तो जिस प्रकार वे माता के आसुओं को देखकर भयभीत हो गये थे, उसी प्रकार कहीं मुझे देखकर हो गये, तो यह स्थिति मेरे लिए सह्य नहीं होगी। इसीलिए वे लक्ष्मण जी के सामने नहीं गयीं। उन्होंने तो अपने आपको श्री किशोरीजी की सेवा के लिए समर्पित कर दिया था। वे लक्ष्मणजी को एक क्षण के लिए भी नहीं रोकना चाहती थीं, वे उनके कर्तव्य-पथ पर, बलिदान-पथ पर चलने में पल भर के लिए भी रुकावट नहीं बनना चाहती थीं।

ये ऐसे पात्र हैं, जिन्होंने स्वयं को मिटाकर राम-राज्य की स्थापना में नींव की ईंट की तरह कार्य किया। ये दिखायी नहीं देते, पर इनके त्याग के आधार पर ही रामराज्य का निर्माण हुआ। वास्तव में ये सहानुभूति नहीं, श्रद्धा के पात्र हैं।

●

मानस-वाटिका के सुरक्षित पुष्प

शरद चन्द्र पेंढारकर
एम. ए.

(१) क्रिया सिद्धिः सत्त्वे भवति

एक बार सन्त रामदास जी के पास एक मुमुक्षु आया और उसने पूछा, "प्रभो! मैं कौन सी साधना करूँ?"

रामदास जी ने उत्तर दिया, "कोई भी कार्य करने से पहिले यदि तुम यह निश्चय करोगे कि वह भगवान् के लिए की जा रही है तो तुम्हारे लिए यही साधना उत्तम होगी। तुम यदि तय कर लो कि तुम्हें दौड़ना है तो दौड़ो, किन्तु दौड़ने से पहले यह निश्चय कर लो कि तुम भगवान् के लिए दौड़ रहे हो, तब यही तुम्हारी साधना होगी।"

"क्या बैठकर करने की कोई साधना नहीं है?" शिष्य ने पुनः पूछा।

"है क्यों नहीं?" रामदास जी ने कहा, "बैठो और निश्चय कर लो कि तुम भगवान् के लिए बैठे हो।"

"क्या जप नहीं किया जा सकता?" शिष्य का अगला प्रश्न था।

"हां, जप भी कर सकते हो, लेकिन उस समय भी तुम भगवान् के लिए कर रहे हो, यह ध्यान में रखना।"

"अर्थात् इसमें भाव का महत्त्व है, क्रिया का नहीं!" शिष्य ने शंका प्रकट की।

रामदास जी ने कहा, "क्रिया का भी महत्त्व है। क्रिया से भाव और भाव ही से तो क्रिया होती है, किन्तु इसके लिए दृष्टि लक्ष्य की ओर होनी चाहिए, तब तुम जो भी करोगे, वही साधना होगी। लक्ष्य के लिए क्रिया और भाव की आवश्यकता है। इनके योग का नाम

साधना है और इन्हीं से सिद्धि प्राप्त होती है। यदि लक्ष्य भगवान् की ओर रहे, तो निश्चय ही उनकी प्राप्ति होगी।"

(२) साधो मिले, साहिब मिले

एक बार शेख शिबली के पास दो व्यक्ति दीक्षा लेने के लिए आये। शेख ने महसूस किया कि उनमें से एक दीक्षा लेने का अनधिकारी है और दूसरा अधिकारी। उन्होंने उन दोनों से अलग अलग आने के लिए कहा।

जब पहला व्यक्ति आया तो उससे उन्होंने कहा, "यह कलमा पढ़ो– ला इल्लाह इल्लिल्लाह शिबली रसूल अल्लाह।" इस पर वह बोला, "तोबा! तोबा!" तब उन्होंने भी कहा, "तोबा ! तोबा!"

उस व्यक्ति ने शेख से पूछा, "आपने तोबा क्यों की?" उन्होंने कहा, "पहले तू बता कि तूने क्यों की ?"

"आप तो मामूली फकीर हैं और दावा करते हैं रसूल होने का। अब आप बताएं कि आपने तोबा क्यों की ?"

"मैंने इसलिए की कि इतनी ऊंची नाम की दौलत एक मैले हृदय में डालने जा रहा था, लेकिन बच गया। तू हमारे काम का नहीं। यदि बैअत (दीक्षा) लेनी हो, तो किसी मस्जिद के मुल्ला के पास जा।"

वह जब चला गया, तो दूसरा व्यक्ति आया। उससे भी शेख ने कहा, "पढ़ो—ला इल्लाह इल्लिल्लाह शिबली रसूल अल्लाह !"

सुनते ही वह बोला, "हजरत, मैं जाता हूं।"

"क्यों ?" शेख ने पूछा।

उसने उत्तर दिया, "मुझे ऐसा महसूस हो रहा है

कि पैगम्बर को मानने वाला तो मैं पहले से ही हूं। कुरान शरीफ भी मेरे घर में है। अगर आप ही पैगम्बर हैं तो मुझे आपके पास आने की जरूरत नहीं। मेरा ख्याल ऊंचा था, लेकिन आपने नीचा ख्याल जाहिर किया क्योंकि मैंने तो सुना था कि मुर्शिद और खुदा एक होते हैं!" यह सुनते ही शेख बोले, "मैं तुम्हें ही बैअत दूंगा। जो खुदा का आशिक है, वह खुदा है। उसमें और मालिक में कोई फरक नहीं।"

(२) आशाहि परमं दुःखम्

सन्त अखा स्वर्णकार थे। वैसे तो स्वर्णकार दूसरों को ठगने के लिए बदनाम हैं, किंतु सन्त अखा इसके अपवाद थे। ईमानदारी तथा सदाचार के कारण वे बड़े ही लोकप्रिय थे, इस लिए अन्य स्वर्णकारों की तुलना में उनका व्यवसाय अच्छा चलता था।

एक दिन एक अपरिचित स्त्री ने उनके पास धरोहर के रूप में तीन सौ रुपये रखे। जब वह रुपये वापस लेने आयी तो उसने इच्छा व्यक्त की कि उसके बदले वे उसके लिए एक अच्छी कण्ठमाला बना दें। कण्ठमाला तीन सौ रुपये में नहीं बन सकती थी, इसलिए सन्त ने निश्चय किया कि बाकी रुपये अपनी ओर से डालकर वे उसे अच्छी कण्ठमाला बनाकर देंगे। उन्होंने तदनुसार लगभग एक सौ रुपये का स्वर्ण मिलाकर कण्ठमाला बनायी और वह उस स्त्री को दे दी। स्त्री को जब कण्ठमाला भारी मालूम पड़ी, तो उसे शंका हुई कि इसमें अवश्य ही कोई धातु मिलायी गयी है। दूसरे ही दिन वह सन्त के पास आयी और उसने डांटते हुए पूछा कि उन्होंने इसमें धातु क्यों मिलायी थी? जब अखा ने उसे बताया कि तीन सौ रुपये में अच्छी कण्ठमाला

बनना सम्भव नहीं था, इसलिए उन्होंने अपनी ओर से सुवर्ण मिलाकर उसे बनाया है, तो स्त्री को विश्वास न हुआ और वह कण्ठमाला को लेकर एक दूसरे स्वर्णकार के पास गयी। स्वर्णकार ने जब उसकी परख की, तो उसने उसे शुद्ध स्वर्ण की बताया और कहा कि इसका मूल्य लगभग ४०० रुपये है। तब वह स्त्री सन्त के पास पुनः आयी और उसने पूछा कि उन्होंने उससे पूछे बिना सुवर्ण क्यों मिलाया था ? सन्त ने उसे विश्वास दिलाते हुए कहा, "तीन सौ रुपये में अच्छी कण्ठमाला नहीं बन सकती थी, इसलिए मैंने अपनी ओर से शुद्ध सुवर्ण मिलाया है, लेकिन उसका मूल्य मैं आपसे नहीं लूंगा।"

वह स्त्री तो खुश होकर चली गयी, किंतु इस घटना से सन्त को आत्म-बोध हो गया। वे विचार करने लगे, "मैंने इस स्त्री को प्रसन्न करने के लिए अपनी ओर से सुवर्ण मिलाया था, लेकिन इसके मन में खोट आ गया। वास्तव में यह संसार ही बड़ा नश्वर है। लोग स्वयं तो झूठे हैं लेकिन दूसरों को झूठा समझते हैं। वे लोभ का संवरण नहीं कर पाते तथा और पाने की आशा करते रहते हैं। अच्छा तो यही होगा कि इस संसार का त्याग कर दूं, जिससे मुझे भी किसी वस्तु की आशा न रहे।" इन विचारों से उनके चित्त में वैराग्य उत्पन्न हुआ और अपने व्यवसाय को त्यागकर व सन्त समागम हेतु तीर्थाटन करने निकल पड़े।

(४) हाड़– मांस की देह मम

महर्षि रमण की तब आयु सत्रह वर्ष की होगी। एक बार वे अपने काका के घर की छत पर सो रहे थे कि उन्हें महसूस हुआ कि उनकी मृत्यु बेला आ गयी है। वे

गंभीरता पूर्वक सोचने लगे कि यदि ऐसा हुआ तो उनका शरीर नष्ट होगा, या उसके अन्दर वास करने वाले 'मैं' का नाश होगा? किंतु इसका उत्तर मिलेगा भी कैसे? इसका अनुभव तो उन्हें था ही नहीं।

आखिर वे उतान लेट गये और हाथ पैर फैलाकर सोचने लगे कि बस, अब उन्हें मृत्यु ग्रसने ही वाली है। उनकी मृत्यु होने पर लोग उनके मृत शरीर को श्मशान में ले जाएंगे, जहां उसकी राख हो जाएगी। उनके मन में फिर प्रश्न उठा, "क्या, 'मैं' उस अवस्था में भी रहेगा, या वह भी जलेगा?" इसका उत्तर उनकी अन्तरात्मा ने दिया- "मृत्यु शरीर को मार सकती है, 'मैं' को नहीं, क्योंकि वह अविनश्वर है मृत्यु की सीमा से परे है, अमर है। इसलिए हाड़-मांसवाली इस देह का मोह त्यागना ही चाहिए।" और इस उत्तर से उनके अन्तर के अज्ञान रूपी अहंकार का नाश हो गया। अविद्या का अन्त हो गया और उन्हें आत्म परिचय हो गया। इस स्थिति में भला मृत्यु कैसे पास आ सकती थी, उस पर उन्होंने विजय जो प्राप्त कर ली थी! वे उठ बैठे और उसी समय घर से निकल कर अरूणाचल की ओर निकल पड़े, जहां उन्होंने घोर तपस्या की और फलस्वरूप पहले वे 'रमण स्वामी' और बाद में महर्षि रमण कहलाये।

(५) घट घट व्यापक राम

पंजाब में बुल्ले शाह नामक एक सन्त हो गए हैं। उनका गुरु एक माली था। एक दिन सन्त अपने गुरु के पास आए और बोले, "आप मुझे ऐसा कोई उपाय बताएं, जिससे खुदा हासिल हो।" उस समय गुरु खेत में थे और प्याज की गांठें एक ओर से उखाड़कर दूसरी ओर लगा

रहे थे। उन्होंने बुल्ले शाह की ओर देखे बिना ही उत्तर दिया, "खुदा का क्या पाना, इधर से उखाड़ना, उधर लगाना।"

बुल्लेशाह की कुछ समझ में नहीं आया। उन्होंने कहा, आपका आशय मेरी समझ में नहीं आया।"

गुरु ने पूछा, "जानते हो, खुदा कहां है?"

"हां, वह आसमान में है।" सन्त ने उत्तर दिया।

"तू कहता है खुदा आसमान में है, तो उखाड़ उसे आसमान से और जमा दे अपनी छाती में! उखाड़ खुदी के खयाल को अपनी छाती से और बो दे उसे सब देहों में। ऐसा प्रेम पैदा कर कि दुनिया के सब लोग तुझे 'मैं' ही नजर आने लगें। खुदी का फना करना और खुदा का पाना एक ही तो बात है।"

सन्त सन्तुष्ट हो वहां से चले गए।

●

सुख-प्राप्ति का उपाय

(गीताध्याय २, श्लोक ६४-६८)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शांतिरशांतस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

तु (परन्तु) रागद्वेषवियुक्तैः (आसक्ति और विद्वेष से रहित होकर) आत्मवश्यैः (अपने वश में की हुई) इन्द्रियैः (इंद्रियों के द्वारा) विषयान् (विषयों का) चरन (उपभोग करता हुआ) विधेयात्मा (संयमित मनवाला) प्रसादं (प्रसन्नता को) अधिगच्छति (प्राप्त होता है।)

"परन्तु आसक्ति और विद्वेष से रहित होकर, संयमित मनवाला जो पुरुष अपने वश में की हुई इंद्रियों के द्वारा विषयों में व्यवहार करता है, वह प्रसन्नता को प्रा त होता है।"

प्रसादे (प्रसन्नता से) अस्य (इसके) सर्वदुःखानां (सभी दुःखों का) हानिः (नाश) उपजायते (होता है) हि (इस कारण) प्रसन्नचेतसः (प्रसन्न-चित्त व्यक्ति की) बुद्धिः (प्रज्ञा) आशु (शीघ्र) पर्यवतिष्ठते (पूर्ण रूप से स्थिर हो जाती है)।

इस प्रकार चित्त की प्रसन्नता प्राप्त होने से समस्त दुःखों का नाश हो जाता है, इसलिये प्रसन्नचित्त व्यक्ति की

प्रज्ञा शीघ्र पूर्ण रूप से स्थिर हो जाती है।"

अयुक्तस्य (अयुक्त व्यक्ति की) बुद्धिः (प्रज्ञा) नास्ति (नहीं होती) अयुक्तस्य (अयुक्त व्यक्ति की) भावना (भावना) च (भी) न (नहीं होती) अभावयतः च (फिर भावना से रहित व्यक्ति को) शांतिः (शांति) न (नहीं) अशांतस्य (अशांत का) सुखं (सुख) कुतः (कहां) ।

" जो व्यक्ति युक्त नहीं है उसको ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती । अयुक्त व्यक्ति भावना भी नहीं कर सकता। भावना से रहित व्यक्ति को शांति नहीं मिलती और जो अशांत है उसे सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ?"

इससे पूर्व के श्लोकों में बताया गया कि मनुष्य के जीवन में क्रमशः गिरावट कैसे आती है । यह भी बताया गया है कि गिरावट का प्रारंभ विषयों के ध्यान से होता है । इससे यह ध्वनित होता है कि पतन से बचने के लिये मनुष्य को विषयों के ध्यान से बचना चाहिये। पर, क्या यह संभव है ? ये इंद्रिय-विषय तो बिना बुलाये ही मनुष्य के समक्ष आते हैं । इनसे कैसे बचा जा सकता है ? पिछली चर्चा में कहा गया था कि यदि किसी भोजन-भट्ट को मालूम पड़ जाय कि सुस्वादु व्यंजन में विष की एक बूंद पड़ी हुई है, तो उसकी दृष्टि ही उस ओर नहीं जायगी । इसी प्रकार यदि साधक समझ ले कि इंद्रियों के विषय उसके जीवन में विष का ही संचार करेंगे, तो वह अपने ऐसे विवेक के बल पर विषयों से पराङमुख हो सकता है । यहां पर "तु" शब्द का व्यवहार पतन और उत्थान के पार्थक्य को ध्वनित करने के लिये हुआ है। जो विषयों में फंसता है, उसकी नियति अन्ततोगत्वा होती है-'प्रणश्यति' (विनाश), परन्तु जो विषयो से बचता है, वह अन्त में 'प्रसादम् अधिगच्छति' (प्रसन्नता को प्राप्त होता

है)। 'तु' शब्द के प्रयोग से यही अन्तर प्रदर्शित किया गया।

पर, प्रश्न उठता है कि विषयों से कैसे बचा जाय, क्योंकि कुछ विषय तो ऐसे हैं, जो जीवन के लिये अनिवार्य हैं। उनके बिना मनुष्य जी भी नहीं सकता। तब ऐसे विषयों का ग्रहण किस प्रकार किया जाय? इसी का उपाय चौसठवें श्लोक में प्रदर्शित हुआ है। और इस श्लोक के माध्यम से भगवान् कृष्ण अर्जुन के उस चौथे प्रश्न का उत्तर भी दे देते हैं, जहां पूछा गया था कि स्थितप्रज्ञ मनुष्य किस प्रकार संसार में व्यवहार करता है – 'स्थितधीः व्रजेत किम।' इस प्रश्न को पूछने का अभिप्राय स्पष्ट है। संसार में वर्तन करने के लिये इंद्रियों का विषय के साथ संयोग आवश्यक है। स्थितप्रज्ञ पुरुष के जीवन में भी इंद्रिय-विषय संयोग होता है तब वे कैसे अपने को गिरावट से बचा लेते हैं? इसके उत्तर में कहते हैं कि स्थितप्रज्ञ पुरुष इंद्रिय-विषयों का ग्रहण तो करते हैं, पर उनका ध्यान नहीं करते। ध्यान उसका होता है, जिसके प्रति खिचाव होता है। विषयों का ग्रहण तो हो, पर उनके प्रति खिचाव न हो। किसी ने सुन्दर खीर बनाकर ला दी। उसके ग्रहण में दोष नहीं है; पर दूसरे दिन खीर का ध्यान न बना रहे, इसकी सावधानी रखनी चाहिये। हम विषय के प्रति आसक्त न हो जायें, यह बुनियादी बात है। इसी तथ्य को 'राग-द्वेष-वियुक्तैः' कहकर हमारे सामने रखा गया। विवेच्य श्लोक में कहा गया कि इंद्रियां विषयों को चरे, इसमें कोई दोष नहीं, क्योंकि वे विषयों को चरती ही हैं। विषय ही इंद्रियों का चारा है। पर साथ ही यह भी बता दिया गया कि इंद्रियां कैसी होनी चाहिये। यहां पर इंद्रियों के दो विशेषण लगाये गए – एक, 'रागद्वेषवियुक्तैः' और दूसरा, 'आत्मवश्यैः'

अर्थात्, इंद्रियां राग और द्वेष से रहित हों तथा साथ ही अपने नियंत्रण में हों। राग और द्वेष ही इंद्रियों को क्षुब्ध करते हुए मन को भी क्षुब्ध कर देते हैं। किसी वस्तु के प्रति जब 'काम' (कामना) स्थिर हो जाता है, तो उसे राग कहते हैं और जब 'क्रोध' स्थिर हो जाता है तो उसे 'द्वेष' कहते हैं। नेत्र किसी रूप को देखना चाहते हैं और किसी को नहीं। चिंतन वांछनीय और अवांछनीय दोनों रूपों का होता है। वांछनीय रूप का चिंतन आसक्ति को जन्म देता है और अवांछनीय रूप का चिंतन द्वेष को। यह बात प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय के विषय पर लागू होती है। दोनों ही दशाओं में इंद्रियां उत्तेजित हो जाती हैं और अन्तःकरण को क्षुब्ध कर देती हैं। जो विषय सुख देता है, उसकी चाह पैदा होती है और ऐसी कामना उपजती है कि वह हमें बार बार मिलता रहे। यह राग है। जो विषय दुःख देता है, उसके प्रति वितृष्णा उत्पन्न होती है, ऐसी इच्छा होती है कि वह हमारे सामने न फटके। यह द्वेष है। राग और द्वेष इन दोनों वृत्तियों से ऊपर उठकर इंद्रियों को विषयों में व्यवहार करने दो—यह तात्पर्य है। लालसा को जला देना मानो विषयों के विष को मार देना है। वह लालसा ही राग-द्वेष उत्पन्न कर व्यक्ति को विषयों में बांधती है। वैसे तो पारा विष है, पर उसे जलाकर जब उसका विष मार दिया जाता है तो वह औषध के रूप में जीवनदान देता है। उसी प्रकार विषयों का विष जब मार दिया जाता है, तो विषय जीवनप्रद हो जाता है। विषयों का विष मारने के लिये इंद्रियों में समाया हुआ राग-द्वेष जलाना पड़ता है, क्योंकि विषयों में स्वयं इंद्रियों से चिपकने की क्षमता नहीं है। इंद्रियों में विद्यमान राग-द्वेष ही विषयों को चिपकाने के लिये गोंद का काम करता है। यदि यह गोंद निकल जाय, तो इंद्रियां

विषयों को चरती तो हैं, पर उनके विष से घायल नहीं होतीं। इसीलिये यहां इंद्रियों का बिशेषण लगाया गया– 'रागद्वेष-वियुक्त'।

प्रश्न किया जा सकता है कि 'राग-द्वेष से रहित' इस विशेषण से ही तो काम बन सकता था फिर एक और विशेषण इंद्रियों के लिये क्यों लगाया गया – 'आत्मवश्यैः' – 'अपने नियंत्रण में की गयी ?' ऐसा कहने से ही तो हो जाता था कि 'रागद्वेषवियुक्तैः' इंद्रियों को व्यवहार में लगाओ ? नहीं, दूसरे विशेषण का भी महत्त्व है। 'राग-द्वेष से रहित' बिशेषण यदि विषयों के संदर्भ में है, तो 'अपने नियंत्रण में की गयी' विशेषण विषयों के उपभोक्ता के संदर्भ में है। दोनों आवश्यक हैं। यदि इंद्रियां अपने नियंत्रण में न हों, तो विषयों में विचरती हुई कहीं पर आबद्ध भी हो सकती हैं। दूसरे विशेषण से यही ध्वनित किया गया कि यदि विषयों में व्यवहार करती हुई इंद्रियों में तनिक भी राग-द्वेष का परिचय मिले, तो तुरन्त उन्हें विषयों से खींच लेना चाहिये। यदि इंद्रियां अपने वशीभूत न हों तो उन्हें विषयों से एकाएक खींचा नहीं जा सकता। अतः इंद्रियों को राग-द्वेष से भी रहित होना चाहिये तथा उनका नियंत्रण में भी रहना आवश्यक है। ये दोनों विशेषण एक दूसरे के पूरक हैं। नियंत्रित इंद्रियों का ही राग-द्वेष दूर हो सकता है तथा राग-द्वेष से रहित होने पर ही इंद्रिय नियंत्रण में आ सकती हैं।

ठीक है, हमने इंद्रियों का राग-द्वेष दूर कर दिया और उन्हें अपने नियंत्रण में भी ले लिया, अब तो उसे विषयों में यथेच्छ लगा सकते हैं ? नहीं, तब भी उन्हें यथेच्छ विषयों में नहीं लगाया जा सकता। आचार्य शंकर इस श्लोक पर भाष्य करते हुए बताते हैं कि किस प्रकार के विषयों में इंद्रियोंको

लगाना चाहिये। वे कहते हैं – 'विषयान् अवर्जनीयान', अवर्जनीय यानी अनिवार्य विषयों में। शान-शौकत या इंद्रियों को भड़काने वाले विषयों में नहीं। श्री रामकृष्ण देव कहा करते थे – छोटी-मोटी कामनाओं को भले ही पूरा कर लो, पर बड़ी कामनाओं का सर्वथा त्याग ही उचित है। जलेबी खाने की कामना उठी तो पूरी कर लो। अच्छे कपड़े पहनने की कामना उठी तो उसकी भी तृप्ति कर लो। पर बड़ी कामनाओं के संबंध में सावधानी बरतो।

कुछ लोग दलील देते हैं कि इन्द्रियों को वश में रख कर सब कुछ भोगा जा सकता है। एक बार पंजाब में मुझे एक उपदेशक मिले। उनका संन्यास। का वेश था। वार्तालाप के प्रसंग में उन्होंने मुझसे कहा, 'स्वामीजी, हम विचार को अधिक महत्त्व देते हैं–आचार को नहीं।' यह गलत है। आचार और विचार दोनों को समान महत्त्व देना होगा। आध्यात्मिक जीवन आचार और विचार के दो पैरों पर खड़ा होता है। एक का खण्डन करना एक पैर को तोड़ने के समान है। फिर, जो विचार को माने पर आचार को न माने, वह पाखण्डी ही तो कहा जा सकता है। और जो आचार को माने पर विचार को न माने, उसे 'गीता' ने 'मिथ्याचारी' कहा है। तो, न तो पाखण्डी होना है और न मिथ्याचारी ही। इसीलिए यहां पर 'रागद्वेषवियुक्तैः आत्मवश्यैः इन्द्रियैः' के साथ एक शब्द और जोड़ा गया है–'विधेयात्मा।' यदि राग-द्वेष से रहित, अपने वशीभूत की हुई इन्द्रियां आचार की प्रतीक हैं, तो 'विधेयात्मा' विचार का प्रतीक है। 'विधेयात्मा' का अर्थ है वह आत्मा, वह अन्तःकरण, जो विधेय है, जिसके लिए विधान किया जा सकता है, अर्थात् ऐसा अन्तःकरण जो अपने वश में हैं, जो हमारी आज्ञा मानता है। भगवत्पूज्यवाद यहां पर भाष्य करते हुए

कहते हैं—'इच्छातो विधेय आत्मा अन्तःकरणं यस्य सः अयं-विधेयात्मा', यानी ऐसा पुरुष, जिसका अन्तःकरण इच्छानुसार वश में हैं।

इस प्रकार चौसठवें श्लोक में बताया गया कि साधक को किस प्रकार अभ्यास करना चाहिए, जिससे वह प्रसाद को प्राप्त हो। प्रसाद चित्त का वह गुण है, जिसे हम क्षोभरहित प्रफुल्लता कह सकते हैं। जब चित्त की चंचलता समाप्त हो वह शांत रूप धारण करता है, उसे प्रसाद की स्थिति या चित्त की प्रसन्नता कहते हैं। पतजंलि के 'योगसूत्र' की भाषा में यही योग की स्थिति है, क्योंकि चित्तवृत्तिनिरोध की अवस्था को ही वहां योग के नाम से पुकारा गया है। यह चित्तवृत्तिनिरोध मन के दमन के फलस्वरूप नहीं प्राप्त होता, अपितु विवेक और विचार के द्वारा जब हम इन्द्रियों के राग-द्वेष को जला देते हैं तथा उन पर नियंत्रण कर लेते हैं, तब चित्त की वृत्तियां अपने आप शांत हो जाती हैं। चित्त की वृत्तियों का अपने आप हो शांत जाना ही प्रसाद की, प्रसन्नता की स्थिति है। इसको प्राप्त करने के लिये साधक को अभ्यास के तीन सोपानों पर चढ़ना पड़ता है। पहला है—इन्द्रियों में पैठ राग-द्वेष को निकालना, दूसरा है—इन्द्रियों को अपने वश में लाना, और तीसरा है—अपने संकल्प विकल्पों को ताबे में रखना। जिस साधक को अभ्यास के ये तीनों सोपाम सर्ध गये है, उसकी इन्द्रियां विषय को चरती हुई भी उसके विक्षोभ का कारण नहीं बनतीं, बल्कि प्रसाद की स्थिति को प्राप्त करा देतीं हैं। चित्त की निर्मलता प्रसाद का दूसरा नाम है। इसी को 'गीता' में व्यवसायात्मिका बुद्धि भी कहा है। राग-द्वेष मल हैं, जो अन्तःकरण को गन्दा करके अव्यवसायी बना देते हैं। साधक अपनी साधना के द्वारा अन्तःकरण को निर्मल कर इसी

प्रसन्नता की स्थिति को प्राप्त होना चाहता है। यह प्रसाद प्राप्त होने पर क्या होता है, यह ६५ वें श्लोक में बतलाते हैं।

प्रसाद की उपलब्धि होने पर समस्त दुःखों का नाश हो जाता है। मुख्यतः दुःख तीन प्रकार के होते हैं–आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। अधिभौतिक दुःख वह है, जो हमें अपने से बाहर के व्यक्ति या वस्तुओं से प्राप्त होता है। सांड़ ने हमें सींग मार दिया, यह आधिभौतिक दुःख है। हमें बुखार आ गया, यह भी आधिभौतिक दुःख है। तात्पर्य यह कि जो दुःख प्राणियों या पंचभूतों से सम्बद्ध अथवा उनसे उत्पन्न है, वह आधिभौतिक है। देवकृत या भूत-प्रेतकृत जो क्लेशादि होते हैं, वे आधिदैविक दुःख हैं तथा जिन दुःखों का मूल मन में होता है, उन्हें आध्यात्मिक कहा जाता है। इन तीनों प्रकार के दुःख को त्रिताप भी कहा जाता है। प्रसाद की अवस्था प्राप्त होने पर त्रितापों की शांति होती है और आनन्द की प्राप्ति।

हमारा आत्मा तो आनन्दमय ही है, पर अन्तःकरण की मलिनता के कारण हमें आनन्द के स्थान पर विषाद का अनुभव होता है। अन्तःकरण के मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चार रूपों में चित्त ही ऐसा है, जो चित्स्वरूप आत्मा को प्रतिबिंबित करने की क्षमता रखता है। जैसे चंचल जल किसी भी वस्तु को सही रूप में प्रतिबिम्बित नहीं कर सकता, उसी प्रकार चंचल चित्त भी आत्मा को सम्यक् रूप से प्रकाशित नहीं कर पाता। जब चित्तरूपी सरोवर में लहर उठती है, तो आत्मा का सहज आनन्दी स्वभाव छिप जाता है और दुःख की प्रतीति होती है। तो कह सकते हैं कि मन में तरंगों का उठना ही दुख है और तरंगों का शांत होना ही सुख। तरंगों को ओढ़ लेना ही दुःख है और उनको उतार फेंकना ही सुख। जैसे, कोई

धूप में बोझा लादे चल रहा हो, उसे बड़ा दुख होता है और जब वह बोझा उतारकर छाये में बैठता है, तो सुख का अनुभव करता है। हम भी उसी प्रकार जब तक संकल्प-विकल्प का बोझा लादकर चलते रहते हैं, सुख को भोग करते हैं और ज्योंही यह बोझा उतर जाता है और मन शांत होता है, त्योंही छिपा हुआ आनन्द प्रकट हो जाता है। आत्मा का यह नित्य आनन्द-भाव ही प्रसाद का रूप है—'प्रसादस्तु प्रसन्नता' राग-द्वेष से मुक्त होकर केवल इन्द्रियों से अवर्जनीय कर्म करने वाले व्यक्ति ही ऐसी प्रसन्नता प्राप्त करते हैं। वे 'प्रसन्नचेतस्' हो जाते हैं।

आचार्य शंकर 'प्रसन्न चेतस्' का अर्थ 'स्वस्थ अन्तः-करण वाला' करते हैं। चित्त का क्षोभ ही उसे अस्वस्थ करता है और जब वह शांत होकर अपने मूल स्वरूप में स्थित होता है, तो उसे 'स्वस्थ अन्तःकरण' कहते हैं। प्रसन्नचेता व्यक्ति के अन्तःकरण में कोई विकार नहीं होता। विकार, मल या गंदगी क्षोभ से उत्पन्न होती है। क्षोभ राग और द्वेष से उत्पन्न होता है। राग और दोष असंयम से पैदा होते हैं। अतः जहां संयम है, वहां राग-द्वेष का क्रमशः अभाव हो जाता है। फलतः क्षोभ का नाश होकर गन्दगी दूर होती है, मल और विकार नष्ट हो जाते हैं तथा चित्त प्रसाद को प्राप्त होता है। ऐसे व्यक्ति की बुद्धि शीघ्र ही प्रतिष्ठित हो जाती है।

इस प्रकार स्थितप्रज्ञता का जो प्रकरण उठाया गया था, उसे यहां पर फिर से उपस्थित करते हैं। बुद्धि के पूर्ण रूप से स्थित होने के लिये चित्त की प्रसन्नता अनिवार्य है। प्रसाद-युक्त चित्त पारदर्शी हो जाता है और आत्मा के सम्यक् स्व-रूप को प्रकाशित कर देता है। क्षुब्ध चित्त अपारदर्शी होता है, हम उसके भीतर से नहीं देख पाते। जब हमें अपने स्वरूप की उपलब्धि होती है, तो हमारी बुद्धि स्थिर हो जाती है।

६४ वें श्लोक में विधेयात्मा' की बात कही गयी और ६५ वें श्लोक में 'स्थित बुद्धि' की। 'स्थित बुद्धि' सिद्धि की अवस्था है– उसे योगसिद्ध कह सकते हैं, जबकि विधेयात्मा को योगारूढ़। योगारूढ़ ऐसा साधक है, जो अपनी साधना में पर्याप्त आगे बढ़ चुका है।

अब ६६ वें श्लोक में बताते हैं कि जो योगसिद्ध नहीं हुआ, जो अयुक्त रह गया है, वह सुख और शांति से हाथ धो बैठता है। प्रकारान्तर से यहां पर सुख-प्राप्ति का उपाय ही बताया गया है। जो सुख पाना चाहता है, उसे पहले शांति प्राप्त करनी चाहिये। शांति प्राप्त करने के लिये भावना भी हो और बुद्धि भी। भावना और बुद्धि के लिये मनुष्य को युक्त होना पड़ेगा।

अयुक्त वह है, जिसका अन्तःकरण समाहित नहीं है। शम-दमादि साधनों से सम्पन्न हो जो गुरु की शरण जाकर श्रवण मनन करता है, उसका अन्तःकरण समाहित होता है। ऐसे व्यक्ति को युक्त कहते हैं। श्रवण-मनन से प्रज्ञा की प्राप्ति होती है, बुद्धि में ज्ञान प्रकाशित होता है। फिर श्रवण मनन के बिना भावना भी नहीं होती। भावना का अर्थ है निदिध्यासन। शंकराचार्य भावना का अर्थ करते हैं 'आत्मज्ञान में अभिनिवेश' यानी आत्मज्ञान के लिये साधना की तत्परता। केवल श्रवण-मनन में ही नहीं लगे रहना है, निदिध्यासन करना है। जिस तत्व का श्रवण-मनन किया है, निदिध्यासन से उसमें स्थित हो जाना 'भावना' कहलाता है। श्रवण और मनन हमें क्रमशः इन्द्रिय और मन की सीमा तक ले जाता है, पर निदिध्यासन हमें चित्त की गहराई में उतार देता है। श्रवण-मनन हमारे तर्कों को पैना बना सकता है, बुद्धि को सूक्ष्म कर सकता है, पर जब तक उसके साथ निदिध्यासन का योग नहीं होता, तब

तक उसमें गहराई नहीं आ पाती। बिना निदिध्यासन के श्रवण मनन केवल चित्त के विक्षेप का ही कारण होता है। जीवन में यदि निदिध्यासन का अभाव हो, तो श्रवण-मनन हमारे पाण्डित्य के दम्भ को जन्म दे सकता है अथवा अपनी बुद्धि के चातुर्य पर गर्व करने को हमें प्रेरित कर सकता है। निदिध्यासन ही श्रवण-मनन को दिशा प्रदान करता है। तात्पर्य यह कि यदि हमारे जीवन में भावना न हो, तो बुद्धि भी सही दिशा में काम नहीं कर पाती। इससे चित्त का चांचल्य कम होने के बजाय बढ़ जाता है। इसीलिये श्लोक में कहा गया है—'न चाभावयतः शांतिः' —अर्थात् भावना न हो तो शांति भी नहीं मिलती और जिसके जीवन में शांति नहीं, उसे सुख कैसे मिल सकता है ? सुख तो शांति का ही प्रतिफल है। चित्त की प्रशांति ही आत्मा की सुखरूपता को प्रकाशित करती है। जहां शांति नहीं, वहां सुख कैसा ?

आचार्य शंकर इस प्रसंग पर भाष्य करते हुए लिखते हैं– 'इन्द्रियाणां हि विषयसेवातृष्णातो निवृत्तिः या तत् सुखम्, न विषयविषया तृष्णा, दुःखम् एव ही सा। न तृष्णायां सत्यां सुखस्य गंधमात्रम् अपि उपपद्यते इत्यर्थः' —अर्थात्, 'विषय-सेवन सम्बन्धी तृष्णा से इन्द्रियों का जो निवृत्त होना है, वही सुख है; विषय सम्बन्धी तृष्णा कदापि सुख नहीं है, वह तो दुःख ही है। अभिप्राय यह कि तृष्णा के रहते हुए तो सुख की गन्धमात्र भी नहीं मिलती।'

अतः ६६वें श्लोक का निष्कर्ष यह है कि सुख की प्राप्ति के लिए व्यक्ति शम-दमादि साधनों का अभ्यास कर पहले युक्त बने; गुरु के समीप जाकर प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा के द्वारा उन्हें प्रसन्न कर, श्रवण-मनन करते हुए बुद्धि (ज्ञान) को प्राप्त करे, फिर उसमें निदिध्यासन का योग

करते हुए भावना की उपलब्धि करे। फलस्वरूप वह शांति को प्राप्त होगा और इस शांति की परिणति सुख की प्राप्ति में होगी ।

अब प्रश्न उठता है कि जो व्यक्ति अयुक्त होता है, जो अपनी इन्द्रियों पर अंकुश नहीं रख पाता, उसकी क्या दशा होती है? जो इन्द्रियों पर नियंत्रण रखता है, इन्द्रियों से राग-द्वेष को अलग कर देता है, जो संयमी है, युक्त है, उसके संबंध में तो कहा कि वह इन्द्रियों के द्वारा व्यवहार में लगा हुआ भी प्रसाद को प्राप्त होता है। पर जो विधेयात्मा नहीं है, जिसका मन नियंत्रण में नहीं है, जो अयुक्त है, उसे न तो शांति मिलती है, न सुख। ऐसा क्यों? नियंत्रण में नहीं है, जो अयुक्त है, उसे न तो शांति मिलती है, न सुख। ऐसा क्यों?–

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

हि (क्योंकि) चरताम् (विषयों के पीछे दौड़नेवाली) इन्द्रियाणां (इन्द्रियों में) यत् (जिसका) मनः (मन) अनुविधीयते (पीछे पीछे जाता है) तत् (वह) वायुः (वायु) अम्भसि (जल में) नावम् इव (नौका की भांति) अस्य (इसके) प्रज्ञां (विवेक को) हरति (हर लेती है)।

"क्योंकि विषयों में विचरती इंद्रियों में से जिस किसी के पीछे पीछे मन जाता है, वह उस (साधक) के विवेक को उसी प्रकार बलपूर्वक हरकर ले जाता है, जिस प्रकार वायु जल में नौका को हर लेती है।"

यहां पर विषयों के आकर्षण की भयावहता प्रदर्शित हुई है। अयुक्त व्यक्ति की इन्द्रियां विषयों में किस प्रकार फंसी रहती हैं, यह यहां पर दिखाया गया है। जिस

इन्द्रिय के भी पीछे मन जायगा, मन उसमें अटक जायगा। और वह बलपूर्वक बुद्धि को भी अपने साथ भगा ले जायगा। इसलिए इन्द्रियों को बड़ी सावधानी से विषयों के चारागाह में भेजना चाहिए। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि मन और इन्द्रियों को वश में करने के बाद इन्द्रियों को यथेच्छ विषयों में जाने देना चाहिए। हमने ६४वें श्लोक की व्याख्या में शंकराचार्य के भाष्य का हवाला देते हुए कहा है कि अवर्जनीय विषयों में ही इद्रियों को जाने देना चाहिए। 'अवर्जनीय' विशेषण बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यदि हमने यह सावधानी न रखी, तो इन्द्रियां मन को हर लेती हैं और मन बुद्धि को भगाकर ले जाता है। किस प्रकार भगाता है? जैसे वायु पानी में नौका को भगाकर ले जाती है। नाव पानी में है, और अचानक आंधी आने लगती है। ऐसी दशा में नाव पूरी तरह वायु के वश में हो जाती है—चाहे तो वायु उसे उलट दे, चाहे जोरों से बहाकर चट्टान से टकरा दे, चाहे उल्टी दिशा में ले जाय। वैसी ही स्थिति अयुक्त व्यक्ति की बुद्धि की होती है, वह पूरी तरह इन्द्रियों और मन की लपेट में आ जाती है और उनकी मनमानी की शिकार होती है।

'यन्मनोऽनुविधीयते' कहकर सूचित किया कि मन को एक ही इन्द्रिय फंसाने में समर्थ है। जिस किसी इन्द्रिय के पीछे मन जाता है, वही मन को फांस लेती है। इन्द्रियां कितनी बली हैं! शंकराचार्य अपने 'विवेक चूड़ामणि' ग्रंथ में (७६) कहते हैं—

> शब्दादिभि: पंचभिरेव पंच पंचत्वमापु: स्वगुणेन बद्धाः।
> कुरंगमातंगपतंगमीनभृंगा नरः पंचभिरंचित: किम्॥

—'हरिण, हाथी, पतिंगा, मछली और भ्रमर—ये पांच जब क्रमश: पंचेन्द्रियों में से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की

एक एक इन्द्रिय में आसक्त होकर पंचत्व को प्राप्त हो जाते हैं, तब भला उस संसारी की दुर्गति का क्या ठिकाना, जो इन पांचों इन्द्रियों में एक साथ बंधा हुआ है!' कहा भी तो है–

> अलि पतंग मृग मीन गज, जरत एक ही आंच।
> तुलसी वे कैसे जियें, जिन्हहिं सतावें पांच॥

हिरन वैसे तो ऐसी चौकड़ी भरता है कि कोई उसे नहीं पा सकता, पर वह 'शब्द' से ऐसा बंध जाता है कि प्राणों को खो बैठता है। वह शिकारी की बांसुरी की मधुर तान सुनकर ठिठककर खड़ा रह जाता है और शिकारी उसे पकड़ लेता है। उसी प्रकार जंगल के हाथी को भला कौन पकड़ सकता है? पर वह स्पर्शेन्द्रिय में बंधकर अपना बल खो बैठता है। हाथी को पकड़ने के लिए जंगल में एक काठ की हथिनी को बनाकर खड़ा कर दिया जाता है। उसके पास एक बड़ा गड्ढा खोदकर उसे पत्ते से ढांक दिया जाता है, जिससे वह दिखायी न पड़े। काठ की हथिनी को साबुन से खूब मलकर चिकना कर देते हैं। हाथी आकर हथिनी को देख उससे सूंड़ मिलाता है। कोमल गिलगिला स्पर्श पाकर उसे मद समझकर वह रुक जाता है और बार बार हथिनी से सूंड़ मिलाने की चेष्टा करते हुए वह आगे बढ़ता जाता है कि गड्ढे में गिर पड़ता है। वहां उसे कुछ दिन बिना-भोजन पानी के रख देते हैं जिससे दुर्बल होकर वह पकड़ में आ जाता है। इसी प्रकार, पतिंगा रूपेन्द्रिय से बंधकर दीपक की लौ से जलकर प्राण त्याग देता है। मछली रसनेन्द्रिय से बंधी है। कांटे में फंसे चारे के रस के लोभ में पड़ अपने प्राण गंवा बैठती है। भ्रमर घ्राणेन्द्रिय से बंधा है। वैसे तो वह काठ को भी छेद सकता है, पर कमल की गन्ध में बंधकर

उसकी कोमल पंखुड़ियों को नहीं छेद पाता और काल का ग्रास बन जाता है। किसी कवि ने लिखा है—

प्रीति रीति विधिना भ्रमर अद्भुत रची बनाय।
काष्ठ भेद समरत्थ है कमल भेद नहिं जाय ॥

संस्कृत के किसी कवि ने बड़ी सुन्दर उत्प्रेक्षा की है—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः ।
इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे ।
हा हन्त हन्त नलिनीं गजमुज्जहार ॥

—एक भौंरा कमल में बैठा हुआ जब गन्ध का आनन्द ले रहा था, तो इतने में सूर्यास्त हो गया और कमल की पंखुड़ियां बन्द हो गयीं। भौंरा कमल में कैद हो गया। अगर वह चाहता , तो कोमल पंखुड़ियों को काटकर बाहर निकल सकता था, पर वह मन में सोचने लगा— जब रात बीत जायगी और सूर्योदय होगा, तब कमल फिर से खिल उठेगा और तब मैं बाहर हो जाऊंगा। पर ऐसा सोच ही रहा था कि इतने में एक हाथी आया और उसने एक झपट्टा मारकर सूंड़ से कमल को तोड़ अपने उदर के हवाले कर लिया। इस प्रकार भौंरा अपने प्राणों से हाथ धो बैठा !

तो यहां इन्द्रियों की जबरदस्त आकर्षण-शक्ति का वर्णन कर यह बताया गया है कि एक इन्द्रिय में फंसने पर जब जीव की यह दुर्दशा होती है, तब इस मनुष्य की कैसी दुर्दशा नहीं होती होगी, जो पांच पांच इन्द्रियों में फंसा हुआ है ! इन्द्रियों को स्वच्छन्द छोड़ देने पर वे मन और बुद्धि को भी भ्रष्ट कर देती हैं। 'कठोपनिषद्' में इन्द्रियों की तुलना रथ में जुते हुए घोड़ों से की गयी हैं, जहां मन लगाम है और बुद्धि सारथि। यदि लगाम कमजोर हो और घोड़े बली, तो वे

लगाम और सारथि दोनों को अपनी इच्छा के अनुसार भगाकर ले जाते हैं। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि सवार जीवात्मा की कैसी दुर्गति न होती होगी। अतः सर्वनाश से बचने के लिए इन इन्द्रियरूप घोड़ों पर नियंत्रण रखना होगा। भले ही प्रारंभ में यह कार्य बड़ा कठिन लगे, पर अध्यवसाय पूर्वक इन्द्रियों को स्वच्छंद विचरने से रोकना होगा। यह वैसा ही दुस्साध्य है, जैसे एक उच्छृंखल घोड़े को काबू में लेना। पर ऐसा दुष्कर कार्य करनेवाला व्यक्ति ही स्थित प्रज्ञता को प्राप्त करने में समर्थ होता है। इसीलिए अगले श्लोक में कहते हैं –

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

महाबाहो (हे महावीर अर्जुन) तस्मात् (इसलिए) यस्य (जिसकी) इन्द्रियाणि (इन्द्रियां) इन्द्रियार्थेभ्यः (इन्द्रिय विषयों से) सर्वशः (सब प्रकार से) निगृहीतानि (संयत हैं) तस्य (उसकी) प्रज्ञा (बुद्धि) प्रतिष्ठिता (प्रतिष्ठित है) ।

"अतएव, हे महावीर अर्जुन, जिसकी इन्द्रियां अपने विषयों से सब प्रकार रोकी हुई हैं, उसकी बुद्धि स्थिर (प्रतिष्ठित) है ।"

'तस्मात्' (इसलिए) का तात्पर्य पूर्व श्लोक से है। इतनी बलवान् इन्द्रियों को अपने विषयों में जाने से जो इच्छानुसार रोक सकता है, सचमुच उसका मनोबल कितना अधिक न होगा ! ऐसे व्यक्ति की ही बुद्धि स्थिर कही जाती है। ५५वें श्लोक से भगवान् श्री कृष्ण ने स्थितप्रज्ञता के लक्षणों का जो प्रकरण आरम्भ किया था, उसका इस श्लोक में समापन करते हैं। कहते हैं कि स्थितप्रज्ञता का और एक

लक्षण है– दुर्जय इन्द्रियों को अपने विषयों में जाने से सब प्रकार से रोक लेना। इसका मतलब यह नहीं कि इन्द्रियों को मारना है। इसका मतलब यह भी नहीं कि इन्द्रियों को विषयों में जाने ही नहीं देना है। इसका तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों में विषयों की ओर जाने की जो सहज प्रवृत्ति होती है, उसके वेग को रोककर उनका इच्छानुसार संचालन करना है। यही सुख-प्राप्ति का उपाय है।

●

स्वामी अखण्डानन्द के चरणों में (१४)

"एक भक्त"

(स्वामी अखण्डानन्द श्रीरामकृष्ण के संन्यासी-शिष्यों में सबसे छोटे थे और भक्तों में 'बाबा' के नाम से परिचित थे। उनके संस्मरण और उपदेशों के लेखक एक भक्त उन्हीं के एक शिष्य हैं और रामकृष्ण-संघ के संन्यासी हैं। ये संस्मरण बंगला में 'स्वामी अखण्डानन्देर स्मृति ग्रंथ-संचय' के नाम से प्रकाशित हुए हैं। प्रस्तुत लेख वहीं से गृहीत हुआ है – स०)

१.१.१९३७। भक्ति और अन्नपूर्णा (अमरीकी भक्त महिलाएं, जिन्होंने बेलुड़मठ के मन्दिर के निर्माण के लिए प्रचुर धन दिया था) ने कुछ दिन पहले ही बाबा को पत्र दिया था। बाद में तार आया था— आगामी पहली जनवरी हम लोग आपके पास बिताएंगे। अमेरिका के बोस्टन-शहर के स्वामी अखिलानन्दजी भी साथ में आने वाले थे। बाबा ने अनंग महाराज (स्वामी ओंकारानन्द) और बड़े द्विजेन महाराज (स्वामी गंगेशानन्द) को भी आने के लिए लिखा ।

स्वागत के लिए कई प्रकार से आयोजन होने लगे—कलकत्ते से फल-फूल, माला, देशी (रसगुल्ला, सन्देश आदि), विदेशी (केक, बिस्कुट आदि) खाने की वस्तुएं लाकर इकट्ठी की गयीं। आश्रम को सजाया-संवारा गया—बहुत उल्लास छा गया ।

पहली जनवरी की सुबह देखा गया रेल-लाइन के किनारे एक अलग से सेलून गाड़ी खड़ी है। बाबा ने शीघ्र

कई लोगों को अतिथियों का स्वागत करके लाने के लिए भेजा और स्वयं भी तैयार होने लगे।

भक्ति, अन्नपूर्णा और स्वामी अखिलानन्द के आने पर उनका पुष्पमाल्य से स्वागत किया गया। हाल में टेबल पर चाय-पान के उपरांत उपहार आदान-प्रदान के साथ-स्वागत-अभ्यर्थना का पहला पर्व शेष हुआ।

द्विजेन महाराज आश्रम के सबको रसगुल्ला दे रहे थे। ऐसे समय अनंग महाराज अर्जेनटाइना के स्वामी विजयानन्द (पशुपति महाराज) को लेकर उपस्थित हुए। बाबा उनको लेकर कमरे में प्रविष्ट हुए, स्नेहपूर्वक खिलाया और बाद में पूछने लगे, "बोल, क्या चाहिए?" उस दिन बाबा ने एक नयी सफेद रेशमी चादर शरीर पर ओढ़ रखी थी, स्वामी विजयानन्द ने वही चाही। बाबा ने उसी समय वह चादर उनके शरीर पर ओढ़ा दी। सारे आश्रम में मानो आनन्द उमड़ पड़ा था।

स्वामी सत्प्रकाशानन्द अमेरिका जा रहे हैं, बाबा उनसे खड़े होकर लेक्चर देने के लिए कह रहे हैं। 'स्मृति कथा' ग्रंथ के लिए लिपिबद्ध श्रीरामकृष्ण-प्रसंग का कुछ अंश अनुवाद करके रखा गया था, वह सबको सुनाया गया। आहारादि के बाद वे लोग घूम-घूम कर आश्रम देखने लगे; किसी ने झाड़ के नीचे, तो किसी ने बगीचे में बेंच पर विश्राम किया। शाम की ट्रेन से सब चले गये। सारा दिन आनन्द के बाद बाबा बहुत थक गये, अन्त में कहने लगे, "पहली जनवरी, आज हम लोगों का भी शुभ दिन है— 'कल्पतरु' दिवस है।"

कुछ दिनों से हिरण्मयी वर्धन आयी हुई हैं। कुमिल्ला के डा. कामिनी वर्धन की पत्नी हैं, पर पति-पत्नी का स्वभाव एक दूसरे के बिलकुल विपरीत है। पति डाक्टर हैं, नास्तिक

स्वभाव के हैं और हिरण्मयी भक्त-साधिका हैं। वे बाबा की तसवीर में ही सबकी पूजा करती हैं— काली, दुर्गा, शिव, कृष्ण, ठाकुर, मां सबकी। बाबा की तसवीर पर भाई-दूज के दिन तिलक भी लगाती हैं। चिट्ठी में उन्होंने एक बार यह लिखा भी था। बाबा ने सुनकर कहा था, "देख रहे हो, ठाकुर माया में भुलवाना चाहते हैं।"

हिरण्मयी वर्धन के पास आते ही बाबा बक-झककर उसे ठाकुरघर (मन्दिर) की ओर भेज देते। वहां जाकर वे बैठे-बैठे रोती रहतीं। बाबा कहते, "योगी जैसे नेत्र हैं उसके।" एक दिन हिरण्मयी तैयार होकर आयी हैं, फूल-चन्दन देकर बहुत समय तक बाबा के पाद-पद्मों की पूजा की, बाद में दोनों चरणों को मस्तक पर धारण किया। बाबा ने चुप रहकर उनकी पूजा ग्रहण की।

३.१.१९३७। शाम के समय बहरामपुर कालेज के प्रिंसिपाल आये हैं। उनके साथ बाबा की शिक्षाविषयक अनेक बातें हुईं। उसमें बाटनी (वनस्पतिशास्त्र) एवं को-एजुकेशन (सहशिक्षा) की भी चर्चा हुई। अन्त में बाबा ने कहा, "लड़के-लड़कियों को सभ्य व्यवहार सिखाना ही शिक्षा का सबसे बड़ा अंग है।

"पछांह में साधुओं के नाम में 'महाराज' लगाते हैं— बस, ऐसे ही सम्मान देने के लिए, इसी से हमारे यहां भी महाराज कहने का चलन हो गया। अशोक, अकबर आदि नाम के आगे सम्राट् लगाना चाहिए, सम्राट् पंचम जार्ज कहना होगा, 'अमानिना मानदेन' ('मानदेन' शब्द पर जोर दिया) —जो जितने सम्मान का अधिकारी है, उसको उतना देना चाहिए। एक मुसलमान फकीर के पास सीखा था— 'जब भी मुहम्मद का नाम लोगे, तब 'हजरत' अवश्य बोलना।'

तुम मान दोगे तभी तो तुमको मान मिलेगा, जैसे 'मणि' को 'मणि महाराज' न कहने से नहीं चलेगा।"

कल श्रीमां की तिथि-पूजा है। सन्ध्यारती के बाद एक प्रहर रात बीत गयी है। श्री ठाकुर को शयन कराके पुजारी ने आकर दूसरे दिन किस प्रकार पूजा करनी होगी यह बाबा से पूछा। बाबा कहने लगे – "मां, लो, मां, खाओ; मां, पहनो– यही तो पूजा है। मंत्र-वंत्र और क्या है ? ठाकुर के इतना मंत्र-वंत्र नहीं था। बहुत आन्तरिकता से कहना होगा – 'मां, यह लो, तुम्हारी वस्तु तुम्हीं को दे रहा हूं। कितने भक्त आज तुमको कितनी अच्छी वस्तुएं दे रहे हैं। मैं तो जो मिला, ले आया हूं, और तो कुछ मिला नहीं। तुम स्वयं छांटकर ले लो, मां।' रोते रोते बोलना, और मन ही मन कल्पना करना कि वे प्रसन्न होकर सब ग्रहण कर रही हैं।

"और हवन करना – मानो सब कुछ आहुति दे दे रहे हो। पच्चीस बेलपत्तियां मां का नाम ले-लेकर देना। ऐसा न हो कि सारे दिन मां की पूजा हो रही है– इधर मां के बेटे लोग सब बिना खाये सूख रहे हैं और उधर मां का नैवेद्य ही नहीं उठ रहा है। हमारी मां इस प्रकार नहीं चाहती थीं। भाव से पूजा हो– समझे ?"

४.१.१९३७। श्री मां की तिथि पूजा है। बहुत सबेरे मन्दिर में मंगलारती हो गयी। उसके बाद सब आकर विनोद-कुटी में बाबा के पास बैठे। एक सज्जन ने शिवजी का एक भजन गाया – 'शिव शिवशंकर भोला महेश्वर।' इसके उपरांत बाबा ने हाथ जोड़कर गद्गद् कण्ठ से दुहराया– "नागेन्द्रहाराय त्रिलोचनाय" (शिवपंचाक्षर स्तोत्र)। एक भक्त से गाने के लिए कहा गया, उसने राधा का एक गीत

सुनाया। बाबा ने कहा, "वह गीत क्यों ? क्या मां का गाना नहीं जानते ?" उसके बाद ही कहने लगे, "नहीं, नहीं– हमारी मां तो सब हैं।" भक्त ने मां का एक गाना गाया।

कुछ समय बीतने पर बाबा अमर की महिला भक्त भक्ति और अन्नपूर्णा द्वारा दी गयी सुन्दर बच्चागाड़ी में बैठकर ठाकुरघर की ओर आये। सामने के आंगन में गाड़ी खड़ी की गयी। ठाकुर घर की ओर हाथ जोड़कर भक्तिपूर्ण गद्गद् कण्ठ से गुरुगम्भीर स्वर में बाबा स्तव-पाठ करने लगे–

कस्तूरिकाचन्दनलेपनायै
श्मशानभस्मांगविलेपनाय।
सत्कुण्डलायै च फणिकुण्डलाय
नमः शिवायै च नमः शिवाय॥

–स्तव के बाद बहुत क्षणों तक दोनों हाथ माथे से लगाकर प्रणाम किया। इसके पश्चात् यह पूछकर कि पूजा और भोग की किस प्रकार व्यवस्था हो रही है, वे विनोद-कुटी लौट गये। चाय-पान के बाद कमरे में बहुतों को उपस्थित देख कहने लगे, "आज मां की तिथि-पूजा है, इसलिए केवल मां की बातें ही याद आ रहीं हैं, सोचकर रखा है कि कुछ बोलूंगा।" भक्त (लेखक) की ओर देखकर कहने लगे, "११ बजे याद दिला देना।"

दोपहर ग्यारह बजे बहुत से लोग बाबा के कमरे में इकट्ठे हो गये। बाबा लेटे हुए थे, बोले, "शरीर बहुत खराब है। बोलना नहीं हो पाएगा।" थोड़ी देर बाद उठ बैठे और कहने लगे, "बताऊं भी क्या ? काशीपुर में उस समय ठाकुर की मृतदेह कमरे में ही थी। ओह, वह कैसा करुण विलाप था ! मां उस घर में रहती हैं, यह कोई समझ नहीं पाता था।

मां आकर पछाड़ खा गिर पड़ीं और विलाप करने लगीं, 'मां, ओ मां, कहां छोड़कर चली गयी, मुझे किसके भरोसे छोड़कर गयी !' मां ठाकुर को मातृभाव से देखतीं— यही यहां ध्यान देने की बात है। इसके बाद फिर कभी मां को वैसा विलाप करते नहीं देखा गया। बस तभी एक बार मां को उस प्रकार आकुल होते देखा था।

४.१.१९३७। सन्ध्या ६॥ बजे का समय होगा। आरती के बाद सब आकर एक एक करके बाबा को प्रणाम कर उनके पास बैठने लगे। बाबा हाल में कुर्सी पर बैठे हैं। इधर-उधर की बातें हो रही हैं। विजयकृष्ण गोस्वामी की अलौकिक जीवनकथा – 'बैकुण्ठ-दर्शन' – पर चर्चा हुई। फिर वृन्दावन और जयपुर की दो-एक बात के बाद बाबा हिमालय में 'दशरथ के दण्ड' में अपने दर्शन और अनुभूति की बातें बतलाने लगे— वह हिमालय का एक अति निर्जन स्थान है। पानी मिल गया, नीचे ही झरना था। बहुत ऊपर में रहने की एक छोटी सी जगह है। काफी नीचे से जल लाना पड़ता है। वहां हिंस्र पशुओं का भय बतलाकर ग्वाले मुझे अपने गांव ले गये। आग के घेरे के भीतर रात में सोया था। अन्त में सोचने लगा – 'यह क्या ! इतना अविश्वास ? देखें तो सही क्या होता है।' फिर बाहर वृक्ष के नीचे आकर बैठ गया, कुछ भी नहीं हुआ। उसके बाद वहीं ऊपर जाकर ध्यान में मग्न हो गया। पीछे से ठाकुर आकर दिखाने लगे— चिन्मय हिमालय, शिव पर काली नृत्य कर रही है, ठाकुर गा रहे हैं—

'अरी , उतर कर आवो पगली
शिव की छाती फट जाएगी !'

इसके पश्चात् बाबा ने एक नए आए भक्त को गाने केलिए कहा। उसने गाया—

(१) जय युगावतार...
(२) अयुत कण्ठे रामकृष्णनाम...

तब बाबा ने पूछा, "मां के गाने नहीं जानते ?" भक्त ने मां के गाने गाये –

(१) काली लड़की के पद नीचे
देखे जो आलोक नर्तनी ।
(२) कहां छुपोगी काली मां तुम ।
(३) निबिड़ अंधेरे में मां तेरी
चमके कैसी अरूप राशि यह ।

इस बार बाबा स्वयं ही गाने लगे–

(१) बोल रे तरु बोल– किसके उद्देश्य से
दिन-रात ताक रहा है उर्ध्व देश में ।

बाउल स्वर में गाने लगे –

(२) चल नहीं पा सका मैं तो
चल नहीं पा सका और !

गाने के बाद कहने लगे, "रामप्रसाद के गीत नहीं जानते ? रामप्रसाद ने एक लाख जवा फूलों से मां की पूजा की थी, एक एक गाना और एक एक जवा फूल । लाख गाने और लाख जवा फूल । यही साधना है– यही सिद्धि । ये सब गाने ठाकुर को बहुत प्रिय थे– ठाकुर के भाव से भरे हुए । यह सब भूलने से नहीं चलेगा, अभ्यास करते रहना होगा । सीख लो सब, याद कर लो । नहीं तो गाना गाने के लिए कहते ही किताब खोजोगे , हारमोनियम पर गाने की किताब खोलकर गाना गाओगे । हमारे समय में ऐसा नहीं था, एक साथ दस गाने गा देते – सब अपनी अपनी स्मरण-शक्ति से; किताब खोलकर गाना– ऐसा कभी देखा नहीं ।"

एक ब्रह्मचारी ने कहा– दस बज गए । उसका भाव

यह था कि अब उठा जाय। बाबा ऊंची आवाज में बोले, "दस बज गये तो उससे क्या? भगवान् को पुकारने के लिए क्या कोई समय नियत है? घड़ी-वड़ी घण्टा-वण्टा तो बजता ही रहता है, क्या मतलब? यह दिन क्या फिर से आएगा? आज मां का दिन है — साल में एक ही बार तो आता है!

"भागलपुर में स्वामीजी (विवेकानन्दजी) तानपुरा लेकर गा रहे थे — सन्ध्या से लेकर रात के बारह बज गये—एक ही गाना चल रहा था :

नहीं आया नहीं आया कुंज में श्याम नहीं आया,
रात बीतने लगी है फिर भी तो वह नहीं आया।"

गायन रुकता ही न था। कितने गणयमान्य लोग बैठे थे, कोई उठ भी नहीं पा रहा था, उधर भोजन ठण्डा हुआ जा रहा था। अन्त में बुला-बुलाकर गायन भंग किया गया। स्वामीजी का भाव बड़ा प्रबल होता था।

"मठ में स्वामीजी किसी किसी दिन तर्क में लगा देते— पूर्व जन्म-जन्मान्तर यह सब है या नहीं। दो पक्ष हो जाते। वे मध्यस्थ बनते — कभी इस पक्ष की ओर से बोलते तो कभी दूसरे पक्ष की ओर से। जिनके तर्क शेष होने लगते, उन्हें कुछ कहकर और भिडा देते। रात के दो-दो बज जाते, तब कहीं सोना होता। और अब तो देख ही रहे हो! हम लोगों के सामने ही जब यह हाल है, तो इसके बाद क्या होगा सोच लो! १० बजे ही सब झूमने लगते हैं— खर्राटे भरके सोना चाहते हैं! आज रात खाने-पीने की छुट्टी है, इसलिए सोचा था कुछ मां का नाम-गान होगा — पर यहां तो ऐसा हाल है! नहीं तो खाने का घण्टा पड़ने पर तुम लोगों को भला कौन अटका सकता है? खाना और सोना! बस! क्या इसीलिए सब आए हो?

गयी। घड़ी ने टन् टन् करके १२ बजाये।

बाबा फिर डग्गे पर ताल देकर गाने लगे :

१) ताथैया ताथैया नाचे भोला बम् बब बाजे गाल,

" 'उद्बोधन' में महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्दजी) के उपदेश छपे हैं– योगी की निद्रा चार घण्टे की और भोगी की छह घण्टे, आठ घण्टे की। तुम लोग योगी हो, भगवान् को चाहते हो। तुम लोग भला कैसे सोओगे? जो भगवान् को चाहता है, वह उनको जब तक न पाले निश्चिन्त होकर कैसे सो सकता है? रुक-रुककर उसका हृदय रो उठता है– आह, अभी तक उनको नहीं पा सका! वह जीवन में सर्वत्र अन्धकार ही देखता है, उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता। भगवान् का नाम लेने के लिए कोई विशेष स्थान और समय है क्या? घड़ी वड़ी सब भूल जाओ – वे सब बाधाएं हैं। सूर्य-सूर्य से ही तो समय का भाव होता है। ...ठीक है, गाना गाओ।"

जिस ब्रह्मचारी ने 'दस बज गये' कहा था, उसने गाना शुरु किया– 'नहीं सूर्य, नहीं ज्योति, ना शशांक सुन्दर। बाबा और चुप नहीं बैठ सके, कुर्सी के ऊपर घुटने पर डग्गा (तबला) लेकर ताल देते हुए मधुर गम्भीर अतुलनीय स्वर में वे खुद स्वामीजी द्वारा रचित गीत गाने लगे –

१) नहीं सूर्य, नहीं ज्योति, ना शशांक सुन्दर।
व्योम में छाया सरीखा भासता जग चराचर॥

२) एक रूप अ-रूप-नाम-वरण, अतीत-आगामी-काल-हीन,
देशहीन, सर्वहीन . . . . –नेति नेति विराम जथाय।
जेई सूर्य तारि किरण, सेई सूर्य सेइ किरण।

घुमा-फिराकर उसी पंक्ति को उन्होंने कितनी बार गाया। सब गम्भीर शान्त, निःस्तब्ध है। आधी रात बीत

डिमि डिमि डिमि डमरू बाजे दुलिछे कपाल-माल।
--कितनी देर तक ये ही दो पंक्तियां गाते रहे।
२) नाचे बाहु तुले भोला भावे भूले--
इस गाने के दो-एक पद गाते ही उनके चेहरे पर मधुर हंसी खिल उठी। जटा के समान केशराशि झूलने लगी-- हिलने लगी, सिर इधर-उधर डोलने लगा, दृष्टि अर्धनिमीलित हो गयी, मानो शिव के भाव में विभोर हो उठे हों। रुक-रुककर गाने की एक एक पंक्ति दुहरा रहे हैं-- कैसी सुन्दर अपूर्व दिव्य मूर्ति है। लगता था जैसे मानव न हों! हठात् सिर को झटका दे, केशों को सामने झुलाते हुए गाने लगे-- 'तार्थैया तार्थैया नाचे भोला बम् बब बाजे गाल।' सबको साथ गाने के लिए कह रहे हैं। बहुत समय तक यही गाना चलता रहा। बाबा थोड़ा रुके-- बाकी सब गा रहे हैं।

गाना थोड़ा रुकते ही बाबा फिर गाने लगे--

(१) मन की बात कहूं कैसे, सखि,
कहना किया मना-- आ-आ--
दरदी बिनु प्राण बचे ना --आ--
(२) रांगा जवा के दिलो तोर पाये मूठो मूठो ;
देना मां, साथ होयेछ, परिये दे ना माथाय दुटो।

--"अहा! ठाकुरजी के पास ये सब गाने गाते गाते रातें कट गयी हैं। हाय, इस नींद ने ही तो मनुष्य को भुला रखा है, उसे मुर्दा बना रखा है, बेहोश कर रखा है। यदि मानुष बनना चाहते हो --ठाकुर कहते थे 'मान हूंश'--यदि ऐसे मान-हूंश होना चाहते हो तो प्रार्थना करो कि नींद कम हो जाय, जिससे उनको अधिक समय तक पुकार सको। ठाकुर सारी रात मच्छरदानी के भीतर बैठकर भगवान् को पुकारते थे। लोग सोचते वे सो रहे हैं। उनकी तो नींद हीं नहीं थी। जो लोग

उनके पास गये, उन्होंने भी नींद को सुला दिया था। देखो न, मेरी ही नींद कितनी है? मैं तो उन लोगों के सामने नगण्य हूं - दो घण्टे से ज्यादा सो नहीं सकता। यदि ज्यादा नींद हो गयी, तो लज्जा अनुभव होती है-कहां सुबह उठकर ठाकुर जी का नाम लूंगा, और वह न कर, यह क्या! मठ में मंगलारती के बाद सोने में भारी लज्जा लगती - ठाकुर उठ गये हैं और मैं सोता रहूंगा? छि:, छि:! और जोर लगाकर उठ पड़ता।

"फिर भी शरीर के लिए जिस प्रकार आहार जरूरी है; उसी प्रकार नींद भी जरूरी है। तुम लोग जो हम लोगों के पास आये- ठाकुर की सन्तानों के पास- जिन्होंने नींद को भी सुला दिया था- वहां तुम लोगों ने क्या सीखा? कुछ थोड़ा तो सीखो। (तब रात के १॥ बजे थे) थोड़ी रात हो गयी है इसलिए सब उठने के लिए व्यस्त हो! और मुझ बूढ़े को देखो। शरीर अस्वस्थ है, सारे दिन कुछ खाया नहीं। तुम लोगों के लिए बैठा हूं। गाना सुन रहा हूं, स्वयं भी गा रहा हूं, इतना बक-झक कर रहा हूं- तब भी वैसा कुछ थका नहीं हूं। थोड़ा भी झोंका नहीं आया। इसके बाद आज और क्या नींद आएगी? तुम लोग तो जाकर खर्राटे भरकर सोओगे - ७ बजे तक।

"मैं लेकिन ठीक ५ बजे घंटा बजाने के लिए कहूंगा। देखो, अभी भी देखो, -ठाकुर इस बूढ़ी हाड़ द्वारा कितनी शक्ति दिखला रहे हैं।"

थोड़ा रुककर फिर कहने लगे, "मैंने एक अच्छे भाव वाले के पास से भाव पाया। जिस देश में रात्रि नहीं, उसी देश का एक मनुष्य पाया।' सुनो कहता हूं- तुम लोग अनन्त के लिए आये हो। घड़ी की ओर देखने से क्या होगा? घड़ी तो सीमा है - बन्धन है। टाइम (समय) तो रिलेटिव

(आपेक्षिक) है। अनन्त यदि चाहते हो तो यह सब भाव दूर करना होगा। दिन-रात, मिनट-घण्टा—यह सब कितनी दूर तक है? इस पृथ्वी में—या बहुत हुआ तो सूर्य के मण्डल तक! सूर्य का मण्डल भला कितना है? इस अनन्त विश्व में कितने सूर्य हैं। एक एक तारा सूर्य के इतना बड़ा है। सीरियस (लुब्धक) आदि दूर-दूर में अलग-अलग सजे हुए हैं। Galactic System, Nebula (छायापथ, नीहारिका) में एक-एक से जाने कितने सूर्यों का जन्म होगा! वहाँ क्या है? Time (समय) का वहाँ जन्म ही नहीं हुआ है।

"हम लोग ध्यान करते—मानो पृथ्वी से बाहर चले जा रहे हैं। वह पृथ्वी मानो और भी दूर होती चली जा रही है! और मैं? जिधर भी देखता असंख्य तारे—प्रकाश-बिन्दु दिखते, और मैं उनके बीच Light (प्रकाश) की Velocity (गति), जिससे ज्यादा गति अभी तक जड़-जगत् में और किसी की नहीं जानी जा सकी है, से भी द्रुतगति से एक तरफ चला जा रहा हूं—कोई ओर-छोर नहीं दिखता—जितनी दूर जाता इसी प्रकार है—बहुत हुआ तो Periodic (एक ही प्रकार से इधर उधर दोलायमान), पर उससे तृप्ति नहीं मिली, शांति नहीं प्राप्त हुई। तब फिर उस प्रचण्ड गति से उल्टी दिशा में गया—उधर भी वैसा ही हुआ—सब दिशाओं में एक ही प्रकार है।

"तब? धीर, स्थिर, निःस्पन्द हो जाता! अनन्त की क्या कोई सीमा है? यह तो हुआ macrocosm (विशाल विश्व ब्रह्माण्ड), इसके बाद देखोगे microcosm अणु-परमाणु—उसके भीतर भी करोड़ों जगत् बन-बिगड़ रहे हैं यह सब सोचने से मन अपने आप स्थिर हो जाता। अन्ततः उसके लिए समय का हिसाब उड़ जाता, समय रुक जाता।

सच बोल रहा हूं—इस प्रकार की अनुभूति कितने दिन हुई है !

"हिसाबी— calcutating होने से कभी भी अनन्त की धारणा नहीं होती, भगवान्-लाभ नहीं होता। जब तक calcutation (हिसाब) में रहोगे, तब तक time and space (देश -काल) का बन्धन रहेगा, माया का राज्य होगा। सत्य वहां से बहुत दूर है। दस बज गये , सोना होगा— ऐसा भाव हम लोगों का नहीं था।"

रात के दो बज़ गये। एक एक करके सबके उठ जाने पर, दो-एक सेवकों ने दो तरफ से सहारा देकर बाबा को कुर्सी से उठाया और एक प्रकार से जोर देकर उनको सुलाया गया। सोते सोते बाबा कहने लगे, "अभी तक शरीर में कष्ट का कोई भाव नहीं था। अब फिर सब दर्द-वर्द लग रहा है। अभी तक आनन्द में था , यह सब कुछ नहीं था।"

सेवकों ने मच्छरदानी लगाकर मोमबत्ती बुझा दी और बाबा के अपूर्व भावमय गानों और बातों का स्मरण करते हुए सोने के लिए प्रस्थान किया। कृष्णा सप्तमी का चांद आकाश में काफी ऊपर उठ आया है। सुप्त श्रान्त अन्धकार में मानो वह चुपचाप शान्ति और प्रकाश ढाले दे रहा है; सारा आश्रम एक अपूर्व गम्भोर भाव में गमक रहा है।

★

जगन्माता का प्रथम दर्शन

बड़े भाई रामकुमार की मृत्यु के बाद से श्रीरामकृष्ण को ही दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर का प्रधान पुजारी-पद ग्रहण करना पड़ा है। अब वे अधिक तन्मयता पूर्वक जगदम्बा के जप-ध्यान में निमग्न रहते हैं और उसके दर्शन के लिये जो कुछ भी करना उन्हें आवश्यक प्रतीत होता है, वह सब वे तत्काल करने लगते हैं। विधिवत् पूजा समाप्त करने के पश्चात् वे रामप्रसाद आदि भक्त साधकों के पद देवी को सुनाते हैं। यह उनकी पूजाविधि का एक अंग ही बन गया है। उनके पदों को गाते समय उनका चित्त अपार उत्साह से भर जाता है और उन्हें लगता है कि जब रामप्रसाद आदि भक्तों को माता के दर्शन मिले हैं, तो यह निश्चित है कि माता के दर्शन हो सकते हैं, अतः मुझे ही उनके दर्शन क्यों नहीं मिलेंगे? ऐसा सोच वे व्याकुल होकर कह उठते हैं, "मां, तूने रामप्रसाद को दर्शन दिये हैं, तो मुझे क्यों न दर्शन देगी? मुझे धन नहीं चाहिए, मान नहीं चाहिए, भोग सुख नहीं चाहिए– कुछ नहीं चाहिए, मुझे चाहिए केवल तेरा दर्शन!" और ऐसी प्रार्थना करते करते उनकी छाती आंसुओं से भीग जाती है। रोने से हृदय का भार कुछ हल्का होने पर वे पुनः पद गाने लगते हैं इस प्रकार पूजा, ध्यान, जप, भजन-यही सब लेकर उनके दिन व्यतीत होते हैं।

क्रमशः उनके अन्तःकरण की व्याकुलता अधिकाधिक बढ़ने लगी और अब उन्हें देवी की सेवा-पूजा में पहले की अपेक्षा अधिक समय लगने लगा। कभी-कभी तो पूजन करते हुए विधि के अनुसार अपने मस्तक पर

एक फूल रखकर, दो दो घंटे स्थाणु की तरह ध्यान में निश्चल हो जाते, तो कभी अन्नादि का भोग लगाकर 'देवी नैवेद्य ग्रहण कर रही है' इस भावना से बहुत समय तक नैवेद्य लगाते हुए ही बैठे रहते। प्रातःकाल उठकर सुन्दर सुन्दर फूल तोड़ लाते और स्वयं ही माला गूंथते। बहुत समय तक देवी को ही सजाते रहते। कभी तीसरे पहर या आरती के बाद ऐसी तन्मयता के साथ पद गाने लगते कि बहुतसा समय बीत जाने पर भी उन्हें कुछ भान नहीं रहता और दूसरों के बारम्बार बताने पर तब कहीं चेत होता।

ऐसी अद्भुत निष्ठा, भक्ति और व्याकुलता देखकर सब लोगों की दृष्टि स्वाभाविक ही श्रीरामकृष्ण-देव की ओर आकर्षित होने लगी। यह तो संसार का नियम है कि साधारण लोग जिस मार्ग से जाते हैं, उसे छोड़कर यदि कोई भिन्न मार्ग ग्रहण करे, तो पहले-पहल लोग उसकी हंसी उड़ाते हैं, पर यदि बहुत दिनों के बाद भी उसके आचरण में अन्तर नहीं पड़ता और वह अपने ही मार्ग में शांति-पूर्वक चलता दिखायी देता है, तब तो उसके प्रति लोगों के भाव भिन्न भिन्न होने लगते हैं और उसके प्रति उनकी आदर बुद्धि उत्पन्न होने लगती है। श्रीरामकृष्णदेव के सम्बन्ध में भी यही बात हुई। कुछ दिनों तक लोगों ने उनकी दिल्लगी उड़ायी, पर बाद में उनका भाव बदल गया और बहुतों के मन में उनके प्रति आदर हो गया। उनकी पूजा और तन्मयता को देख मथुरबाबू को बड़ा आनन्द हुआ और उन्होंने रानी रासमणि से कहा, "हमें बड़ा अद्भुत पुजारी मिला है, देवी बहुत शीघ्र जाग्रत् हो जाएगी।"

इस प्रकार दिन के बाद दिन जाने लगे। श्रीरामकृष्णदेव की व्याकुलता उत्तरोत्तर बढ़ने के फलस्वरूप उनका आहार और निद्रा कम हो गयीं, उनका वक्षःस्थल सदा आरक्त दिखने लगा, आंखों से निरंतर अश्रुधारा बहने लगी और पूजा को छोड़ अन्य समय मन की प्रचण्ड व्याकुलता से उनके शरीर में सदा एक प्रकार की अशांति और व्यग्रता दिखायी देने लगी।

आज प्रातःकाल से ही श्रीरामकृष्ण का हृदय जगन्माता के विरह में अतीव व्याकुल होकर तड़प रहा है। वे तन्मयतापूर्वक जगदम्बा को गाना सुना रहे हैं और अत्यन्त आकुल होकर उनके दर्शनों के लिए प्रार्थना करते हुए, रोते रोते कह रहे हैं, "मां! तुझे मैंने इतना पुकारा और तेरी इतनी विनती की, पर यह सब क्या तुझे सुनायी नहीं देता? तूने रामप्रसाद को दर्शन दिये और मुझको तू दर्शन क्यों नहीं देती? तू ऐसा क्यों करती है?" ऐसा कहते कहते उनके हृदय में तीव्र वेदना उत्पन्न हुई; ऐसा मालूम पड़ने लगा कि कोई उनके हृदय को भीगे वस्त्र के समान निचोड़े डाल रहा है। उनके मन में आशंका की लहर उठी कि माता का दर्शन अब कभी भी नहीं होगा। वे सोचने लगे कि 'अब इस अवस्था में जीवित रहकर ही क्या करना है? बस, अब तो देवी के चरणो में प्राण दे देना ही ठीक है। इतने में ही उनकी दृष्टि मन्दिर में टंगे एक खड्ग पर पड़ी। उसके एक आघात से ही जीवन का अन्त कर देने के इरादे से वे उन्मत्त के समान उसकी ओर झपटे और खड्ग को पकड़ने वाले ही थे कि उसी समय सहसा उन्हें जगदम्बा का अद्भुत दर्शन मिला और वे बेसुध होकर गिर पड़े। तदनन्तर क्या हुआ और वह दिन तथा उसके बाद का दिन कैसे बीता

सो उन्हें कुछ भी पता नहीं चला। बस, उन्हें यही अनुभव हो रहा था कि उनके हृदय में एक अपूर्व घनीभूत आनन्द का स्रोत प्रवाहित हो रहा है और यह कि उन्होंने जगन्माता के साक्षात् प्रकाश की अनुभूति कर ली है।

किसी अन्य अवसर पर इस दिन का वर्णन करते हुए श्री रामकृष्णदेव ने कहा था, "घर, द्वार, मन्दिर- ये सब कुछ न जाने कहां विलुप्त हो गये - मानो कहीं कुछ भी नहीं था। मुझे एक अनन्त, असीम, चेतन ज्योति का समुद्र दिखाई देने लगा - जिधर जहां तक मैं देख पा रहा था, उधर ही चारों ओर से गरजती हुई उसकी उज्ज्वल तरंगे मुझे लीलने के निमित्त अत्यंत तीव्र वेग से बढ़ी आ रही थीं। देखते देखते वे मेरे ऊपर आ गिरीं और पता नहीं मुझे कहां एकदम डुबो दिया। हांफता तथा डुबकियां लगाता हुआ अचेत होकर मैं गिर पड़ा।"

◆

एक सन्त से वार्तालाप

(स्वामी अद्‌भुतानन्द के संस्मरण)

(स्वामी अद्‌भुतानन्द श्रीरामकृष्णदेव के अंतरंग संन्यासी-शिष्यों में से थे, जो रामकृष्ण संघ में लाटू महाराज के नाम से परिचित हैं उनके ये संस्मरण 'वेदान्त एण्ड दि वेस्ट' पत्रिका से साभार गृहीत एवं अनूदित हैं। —सं.)

"लाटू श्रीरामकृष्णदेव का सर्वश्रेष्ठ चमत्कार है," स्वामी विवेकानन्द ने एक बार स्वामी अद्‌भुतानन्द के सम्बन्ध में ये वचन कहे थे। "यद्यपि उसने तनिक भी लौकिक शिक्षा नहीं प्राप्त की थी तथापि गुरुदेव के संस्पर्शमात्र से उसने सर्वोत्तम ज्ञान को प्राप्त कर लिया था।" लाटू, जैसा कि स्वामी अद्‌भुतानन्द को उसके गुरुभाई स्नेह से कहा करते थे (तथा जो बाद में भक्तों के बीच लाटू महाराज के नाम से परिचित हुआ श्री रामकृष्ण के पास उनके संन्यासी-शिष्यों में सबसे पहले पहुंचा था। बंगाल की उतर पश्चिम सीमा से लगे बिहार के एक छोटे से गांव में साधारण परिवार में उसका जन्म हुआ था। माता-पिता ने उसका नाम रखा था — रखतूराम। उसके प्रारंभिक जीवन के सम्बन्ध में बहुत कम ज्ञात है क्योंकि लाटू महाराज उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहते थे। एक बार बहुत जोर देने पर उन्होंने बस इतना ही कहा था, "इन व्यर्थ की बातों में तुम अपना समय गंवाओगे कि भगवान् का स्मरण करोगे ?" ऐसा सुना जाता है कि जब लाटू मात्र पांच बरस का था, तभी उसके माता-पिता गुजर गये थे और उसकी देखरेख का भार उसके एक चाचा पर पडा था, जो उसे कलकत्ता ले आया था। गुरु और शिष्य को नजदीक लानेवाला भाग्य का चक्र घूमने लगा था।

लाटू के लिए नौकरी आवश्यक थी। थोड़ा खोजने पर पर उसे रामचन्द्र दत्त के यहां घरेलू नौकर का काम मिल गया। रामचन्द्र दत्त श्री रामकृष्ण के भक्त थे। लाटू मेहनती और ईमानदार था, स्पष्टवादिता और आत्मसम्मान जैसे गुण उसमें धीरे धीरे प्रकट होने लगे। एक बार रामचन्द्र दत्त के एक परिचित ने जब यह आशंका प्रकट की थी कि यह नौकर बड़ी आसानी से बाजार के सौदे के हिसाब में से कुछ पैसे चुरा सकता है तब लाटू उत्तेजित हो बोल उठा था, "महाशय, यह जान लो, मैं नौकर हो सकता हू पर चोर नहीं !"

रामचन्द्र दत्त के यहां ईश्वर सम्बन्धी बहुत चर्चा होती, इसलिए उस घर के धार्मिक वातावरण का लाटू पर गहरा प्रभाव पड़ना ही था। एक बार उसने अपने मालिक को यह कहते सुना था, "यदि कोई भगवान् के लिए श्रद्धावान् और आकुल हो तो उसे भगवान् के दर्शन जरूर मिलेंगे। उनके लिए निर्जन में रोओ और प्रार्थना करो, तभी वे तुम्हारे सामने प्रकट होंगे।" इन शब्दों ने लाटू को बहुत प्रभावित किया था तथा उसे जीवन भर इसका स्मरण बना रहा। प्रायः देखा जाता कि लाटू किसी कोने में कम्बल ओढ़े दुबका पड़ा रो रहा है। घर की महिलाएं यह सोचकर कि वह अपने चाचा या गांव की याद करके रो रहा है, उसे सान्त्वना देने की कोशिश करतीं। वे नहीं जानती थीं कि लाटू के दुःख का कारण इन सबकी अपेक्षा कहीं अधिक गहरा था।

रामचन्द्र बाबू के यहां लाटू ने श्री रामकृष्ण के बारे में बहुत कुछ सुना था, इसलिए उनको देखने के लिए वह बेचैन था। जल्दी ही उसे वह अवसर प्राप्त हो गया।

उनसे पहली भेंट में ही उसे बहुत आनन्द हुआ था। श्री रामकृष्ण भी लाटू की आध्यात्मिकता देख बड़ प्रभावित हुए थे। इस भेंट के कुछ दिन बाद ही श्री रामकृष्ण कई महीनों के लिये कामारपुकुर चले गए, इसलिए लाटू को बड़ा सूना सूना लगता। फिर भी वह बीच बीच में दक्षिणेश्वर जाता, पर लोगों को लगता कि वह दुःखी और निराश है। लोग सोचते कि शायद किसी प्रकार की डांट-फटकार या सजा मिलने के कारण ऐसा हुआ है। कई वर्षों बाद लाटू महाराज ने बतलाया था, "तुम कल्पना नहीं कर सकते उस समय मैंने कितना कष्ट पाया था। कभी ठाकुर के कमरे में जाता, कभी पंचवटी में घूमता, पर सभी स्थान नीरस लगते। अपने बोझ को हलका करने के लिए मैं रोता। सिर्फ रामबाबू मेरे हृदय की व्यथा को कुछ कुछ जान पाये थे। उन्होंने ठाकुर की एक तस्वीर मुझे दी थी।"

जब श्री रामकृष्ण कामारपुकुर से लौटे तो उन्हें एक व्यक्तिगत सेवक की आवश्यकता महसूस हुई। उन्होंने रामचन्द्र से लाटू को देने की बात कही और उनके भक्त रामबाबू भी इसके लिए सहर्ष राजी हो गये। इस प्रकार बालक लाटू के हृदय में संजोयी गयी साध पूरी हो गयी। गुरु की सेवा और उनकी आज्ञा का पालन ही उसके जीवन का एक मात्र कार्य बन गया। श्री रामकृष्ण की सामान्य सी बात या साधारण इच्छा भी लाटू के लिए नियम बन जाती। श्री रामकृष्ण ने लाटू को एक बार शाम को सोते देख यूं ही झिड़कते हुए कहा था, "यदि ऐसे समय तू सोएगा तो फिर ध्यान कब करेगा?" लाटू के लिए यह पर्याप्त था। उसने तब से रात्रि में सोना ही छोड़ दिया। अपने अंतिम जीवन पर्यंत लाटू महाराज संपूर्ण रात प्रायः ध्यान करते

हुए बिता देते और दिन में बस थोड़ी देर के लिए सो लेते।

लाटू महाराज के गहरे ध्यान के सम्बन्ध में कई घटनाएं हैं। एक दिन गंगा के तट पर वे ध्यान कर रहे थे। गंगा में ज्वार चढ़ने लगा और उनकी निःस्पंद देह गंगा के जल से घिरने लगी। श्री रामकृष्ण के पास जब यह खबर पहुंची, तब वे भागे भागे आये और उन्होंने जोरों से पुकार पुकार कर उनके ध्यान को भंग किया।

कीर्तन के प्रति भी लाटू महाराज का बहुत लगाव था। रामचन्द्र दत्त के यहां नौकरी करते समय भी जब उन्हें पता लगता कि आसपास कहीं कीर्तन हो रहा है, तो वे अपने सब काम छोड़-छोड़कर उसमें सम्मिलित हो जाते। बाद में तो कई बार कीर्तन करते करते उनको भाव हो जाया करता था।

लाटू महाराज जिस उच्च आध्यात्मिक भूमि पर अवस्थित रहते थे, उसमें भौतिक सुविधा गौण बन जाती, इसलिये वे उसकी तनिक भी परवाह न करते। बहुधा पानी में भिगोयी हुई आसपास में उपलब्ध साग भाजी ही उनका भोजन होती। अपने गुरु श्री रामकृष्ण के प्रति पूर्ण समर्पण ही उनका एकमात्र सम्बल था। उनका पूरा विश्वास था कि जिस चीज की आवश्यकता होगी, श्री रामकृष्ण उसे पूरा करेंगे। एक बार जब किसी ने उनसे कृपा की याचना की, तब वे बोल उठे "ईश्वर पर तुम्हारा विश्वास बड़ा कमजोर है। यदि एक-दो दिन में तुम्हें लाभ होता नहीं दिखायी देता, तो तुम उनको छोड़ मनमानी करने लगते हो। सच्चा समर्पण वही है, जिसमें विश्वास अडिग बना रहे, चाहे विपत्तियों का आसमान ही तुम पर क्यों न टूट पड़े।"

धीरे धीरे कठोर आध्यात्मिक साधनाओं के फलस्वरूप तथा शरीर की आवश्यकताओं के प्रति उदासीन रहने से

उनका एक समय का सबल शरीर टूट सा गया। शरीर की व्याधि ज्यों ज्यों बढ़ने लगी, त्यों त्यों उनका मन और अधिक अन्तर्मुखीन होने लगा। अन्त में अपने बाह्य परिवेश से बेपरवाह वे कई दिनों तक समाधि और अर्ध समाधि के बीच की अवस्था में डूबे रहे और अन्ततोगत्वा महासमाधि में लीन हो गए।

जोसेफिन मैक्लाइड को १२ मई, १९२० को लिखे अपने एक पत्र में, जो अभी भी अप्रकाशित है, स्वामी तुरियानन्द जी ने लाटू महाराज की महा समाधि का बड़ा हृदय स्पर्शी चित्रण किया था– "मैं अत्यन्त खेद के साथ तुम्हें सूचित कर रहा हूं कि स्वामी अद्भुतानन्द–लाटू महाराज– अब हमारे बीच नहीं रहे। २३ अप्रेल को उन्होंने अंतिम सांस ली। उनकी मृत्यु भी बहुत अद्भुत थी। शरीर के रुग्ण होने के समय से ही वे एक ध्यानस्थ अवस्था में आरूढ़ हो गए थे और देहपात होते तक उसी में बने रहे। दाहिने घुटने में एक छोटा सा घाव हो गया था, जो बाद में गैंग्रीन में बदल गया। उपलब्ध श्रेष्ठ चिकित्सा से भी कोई लाभ न हुआ और अन्त में दस दिन बाद ही उनका देहावसान हो गया। बीमारी के समय उनमें पीड़ा के कोई चिह्न नहीं दिखलायी दिये। सबसे आश्चर्य तो तब हुआ, जब मृत्योपरान्त उनकी देह को कुछ अनुष्ठान हेतु बैठी हुई मुद्रा में रखा गया। तब हम लोगों ने देखा कि वे अत्यन्त मोहक, शांत और आनन्द से भरपूर लग रहे हैं। उनका मुखमण्डल दिव्यआनन्द और ज्योति से दीप्त था और ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो अपने निकट के मित्र-परिजनों को वे अन्तिम समय आशीर्वाद देते हुए उन सबसे बिदा ले रहे हों सच ही वह देवदुर्लभ दृष्य था।

"तीन घंटे तक भगवान् के नाम का कीर्तनकरने के बाद हम लोग उनकी मृत देह को चन्दन और पुष्प मालाओं

से सजाकर गंगा तट पर ले गये . . .।

"लाटू महाराज परम शांति के धाम में प्रविष्ट हो गये। इस प्रकार श्री रामकृष्ण की एक और अन्तरंग शिष्य-संतान उनसे जा मिली। पर इधर हमें उनके अभाव में उतना ही खाली-पन लग रहा है। सचमुच हम लोगों ने एक उच्च आध्या-त्मिक विभूति को खो दिया है। उनकी निरक्षरता और सादा सरल जीवन ऐसा था कि वही उनको श्री रामकृष्ण का एक सच्चा और श्रद्धालु शिष्य बनने में सर्वाधिक सहायक हुआ था।

एक बार एक युवा साधु ने लाटू महाराज से साधु के गेरुए वस्त्र का महत्व पूछा। उन्होंने उत्तर में कहा "ये कपड़े उसे सदैव त्याग के आदर्श की याद दिलाते हैं कि उसे सदा कठोर तपस्या का जीवन बिताना है न कि भोग-सुख का। यदि साधु का मन कभी गलत मार्ग की ओर प्रवृत्त होता है तो ये कपड़े उसे सावधान कर सतर्क कर देते हैं।" महाराज ने आगे कहा "ऐसे साधुओं के लिए जो सच्चे और पवित्र है, यह वेश हमेशा पवित्रता और दिव्यता बनाये रखने की याद दिलाता रहता है। परन्तु ऐसे लोगों के लिये जिनमें कोई संकोच या झिझक नहीं है, जो केवल दिखाने के लिए उसे पहन रखते हों, वह निरुपयोगी ही नहीं, हानिप्रद है। वे दूसरों को ही नहीं छलते, स्वयं भी छले जाते हैं, क्योंकि यह मन ही है, जो मनुष्य को साधु बनाता है, न कि बाहरी पहिनावा यदि अन्दर से किसी में साधुता है तो भले ही ऊपर से उसका वेश वैसा न हो, वह सच्चा साधू है। बाहरी वेश उतने महत्व का नहीं है। पर यदि एक बार गेरुआ वस्त्र धारण कर लिया, तो उसकी गरिमा को बनाये रखना होगा। एकमात्र अवांछित विचारों और कर्मों से बचना होगा तथा सदा याद रखना होगा कि गेरूआ धारण करने पर भगवान्-लाभ के लिये ही वह कटि-

बद्ध है, अन्य और किसी उद्देश्य के लिए नहीं है। परन्तु यदि वह स्वेच्छाचारी हो जाता है, तब तो उसको 'माया मिली न राम' वाली दशा हो जाती है।"

एक बार बलराम बाबू के यहां रहते समय उन्होंने किसी से कहा था, "कोई आदमी अपने असली स्वरूप को ज्यादा दिन तक छुपाकर नहीं रख सकता। यदि पाखंडी होगा, तो जल्दी ही उसका भण्डाफोड़ हो जायगा। ऐसे लोग सच्चे लोगों के सामने छिप नहीं पाते और उनके सब भेद खुल जाते हैं।" कुछ रुककर फिर कहने लगे, "एक बार दक्षिणेश्वर में एक नागा साधु आया था। ठाकुर ने जब उसे देखा तो कहा कि इसने जरूरी ऊपरी आवरण तो त्याग दिये हैं पर अभी भीतर में उस दैवी आनन्द का रसास्वादन नहीं पाया है, जिसके पाने के बाद ही वास्तव में इस प्रकार का त्याग होता है। सिर्फ नंगे रहनेसे ही कोई त्रैलंग स्वामी नहीं बन जाता। त्रैलंग स्वामी जैसे लोग ही सभी मान्यताओंऔर नियमों से परे उठे हुए होते हैं।" (त्रैलंग स्वामी वाराणसी के एक अत्यन्त प्रसिद्ध सन्त हो गये हैं। श्री रामकृष्ण उनके दर्शन करने के लिये वाराणसी गये थे और उनको देख बहुत प्रभावित हुए थे। त्रैलंग स्वामी प्रायः सर्वदा नग्न रहते। अपने जीवन के अंतिम वर्षों में उन्होंने मौनव्रत भी ले लिया था।)

एक बार दो गृहस्थ भक्तों ने लाटू महाराज से पूछा, "महाराज, संसार में रहने वाले लोगों के मन में इतने 'उतार चढ़ाव' क्यों होते रहते हैं?" महाराज के उत्तर दिया, "चूंकि कई प्रकार के कर्तव्य होते हैं इसलिए गृहस्थों को धन, सम्पत्ति और परिवार की बहुत चिन्ता करनी पड़ती है। प्रार्थना, ध्यान और पूजा के द्वारा वे लोग अपने मन को इन चिन्ताओं से ऊपर तो उठा लेते हैं, पर मन फिर नीचे खिंच

जाता है। सतत ईश्वर के पास मन को बनाये रखना एक बहुत बड़ी तपस्या है। जो ऐसा कर सकेगा, वह अपने मन की चंचलता को सदा के लिए शांत कर सकने में भी सफल होगा।

"यदि धागे का छोर छितराया हुआ हो, तो उसे सुई के छेद से नहीं डाला जा सकता। उसी प्रकार यदि मन कई लोगों में और कई विषयों में बंटा हुआ हो, तो उसे भगवान् में नहीं लगा सकते। जब किसी का मन सम्पूर्ण तया ईश्वर पर केन्द्रित हो जाता है, तब उसे आत्मा के दिव्यानन्द की अनुभूति होती है' पर संसार में रहकर ऐसा कर पाना बड़ा कठिन होता है।"

उन्होंने आगे कहा "बीमारी, सुख, दुःख ये गृहस्थों के हमेशा के साथी है। इनके ऊपर फिर आलस्य और मानसिक उलझनें हैं। और यदि ईश्वर में अविश्वास भी इसके साथ जुड़ जाय, तब तो मनुष्य की दशा सचमुच ही असाध्य हो जाती है। मुक्ति तब असंभव हो जाती है।"

"इसका मतलब क्या यह है," उपस्थित लोगों में से एक ने पूछा, कि हम लोग संसार छोड़कर अपनी समस्त शक्ति भगवान्-लाभ के लिये लगा दें ?"

"तुम लोग भला संसार क्यों छोड़ोगे ?" महाराज ने उत्तर दिया। "तुमको उन्हें पुकारने के लिये कहा जा रहा है जिनके परिवार के तुम वास्तव में सदस्य हो। तुम जहां हो, वहीं से उन्हें पुकारो।तुम और कहां जाओगे ?'यह संसार' कहां रहता है ? तुम्हारे मन में ही तो ? जहां कहीं भी तुम इस प्रकार के मन को लेकर जाओगे, वहीं नया संसार बसा लोगे। यदि तुम्हारे मन में भोग-लालसा है, तो जंगल में भी छुपने पर मन भोग को ही वहां खोजेगा।

(क्रमशः)